वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ५० अंक ४ अप्रैल २०१२

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अप्रैल २०१२

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५०
अंक ४

वार्षिक ६०/- **एक प्रति ८/-**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/-
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/-
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/- ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर - २२,५००

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

पुरखों की थाती

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं रहस्यं मन्त्रमौषधम् ।
दान-मानापमानञ्च नव गोप्यानि सर्वदा ।।४७।।

– आयु, धन, मकान, दोष, रहस्य, मंत्र, औषधि, दान, मान-अपमान – ये नौ चीजें सर्वदा गोपनीय रखनी चाहिये।

आत्मा नदी संयम-पुण्यतीर्था
सत्योदका शीलतटा दयोर्मि ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र,
न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ।।४८।।

– हे युधिष्ठिर, केवल जल में स्नान करने से अन्त:करण की शुद्धि नहीं होती; तुम उस आत्मा-रूपी नदी में स्नान करो, संयम जिसके पुण्यतीर्थ हैं, शील-संवेदना जिसके तट हैं और दया जिसकी तरंगें हैं।

इच्छति शती सहस्रं ससहस्रः कोटिमीहते कर्तुम् ।
कोटियुतोऽपि नृपत्वं नृपोऽपि बत चक्रवर्तित्वम् ।।४९।।

– सौ रुपयों का स्वामी हजार रुपयों की आकांक्षा करता है, हजारपति उसे करोड़ में परिणत करना चाहता है, करोड़पति राजा बनना चाहता है और राजा चक्रवर्ती सम्राट् होने की चेष्टा में लगा रहता है। तात्पर्य यह कि सभी अभावग्रस्त हैं, कोई भी अपनी वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट नहीं है।

इज्याऽध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः।।५०।।

– 'धर्म के आठ मार्ग बताये गये हैं – यज्ञ, स्वाध्याय, दान, तप, सत्य, धैर्य, क्षमा और सन्तोष।'

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमर्च्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव सिद्धिमाप्नोति मानवः ।।५१।।

– इसमें कोई संशय नहीं कि इन्द्रियों का भोग करने से दोष की प्राप्ति होती है और उन्हीं का संयमन करने से मनुष्य सिद्धिलाभ करता है।

इहासने शुष्यतु मे शरीरं
त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु ।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां
नैवासनात् कायमतश्चलिष्यते ।।५२ ।।

– भले ही मेरा शरीर सूख जाय, त्वचा-अस्थियाँ-मांस आदि नष्ट हो जायँ, परन्तु जिसे अनेक युगों में भी प्राप्त करना कठिन है, उस ज्ञान को प्राप्त किये बिना मेरा शरीर इस आसन से विचलित नहीं होगा। (ललित-विस्तर)

ईक्षणं द्विगुणं प्रोक्तं भाषणस्येति वेधसा ।
अक्षिणि द्वे मनुष्याणां जिह्वा त्वैकेव निर्मिता ।।५३।।

– ब्रह्माजी ने बोलने की अपेक्षा देखने का महत्त्व दुगना माना है, इसीलिये उन्होंने मनुष्य को आँखें दो दी हैं, जबकि जिह्वा केवल एक दिया है।

ईर्ष्यी घृणी त्वसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशंकितः ।
परभाग्योपजीवी च षडेते दुःखभागिनः ।।५४।।

– ईर्ष्यालु, घृणा करनेवाला, असन्तोषी, क्रोधी, नित्य शंका करनेवाला और दूसरों के आश्रय से जीवन यापन करनेवाला – ये छह प्रकार के लोग सर्वदा दुखी रहते हैं। (विदुरनीति)

ईशा वास्यमिदः सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।५५।।

– इस जगत् में (चर-अचर) जो कुछ भी परिवर्तनशील है, सबको ईश्वर से आच्छादित कर लेना चाहिए। इस त्याग के द्वारा अपना पालन करो। किसी के भी धन का लोभ मत करो।

❖ **(क्रमशः)** ❖

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(दरबारी–कहरवा)

हे रामकृष्ण हे करुणामय,
अन्तर में तुम्हारा धाम रहे ।
जीवन के द्वन्दों में प्रतिपल,
होठों पे तुम्हारा नाम रहे ।।

अब दिन बीतें प्रारब्ध-चलित,
तुम ही देखोगे मेरा हित ।
करने को नहीं अपना कुछ भी,
हाथों में तुम्हारा काम रहे ।।

दो दिन के साथी दारा-सुत,
बन्धनकारी हैं बहुत बहुत ।
अब सौंप दिया सब कुछ तुमको,
चाहे जो भी अंजाम रहे ।।

सुख-दुःख से पूरित तन-मन है,
पल-पल क्षय होता जीवन है ।
जब मैं 'विदेह' प्रस्थान करूँ,
चरणों में ही विश्राम रहे ।।

– २ –

(वागेश्री–रूपक)

हे प्रभो श्रीरामकृष्ण, आप जग के नाथ हैं ।
जो भटकते विषय-वन में, वे गरीब-अनाथ हैं ।।

तर चुके हैं हम कभी के, मोहमय संसार से ।
मुक्त हैं हम शरण लेकर, हर तरह के भार से ।
शीश पर अपने सतत,
आशीष के तव हाथ हैं ।। जो भटकते. ।।

हो समर्पित प्राण-जीवन, दीन-जन उद्धार में ।
नित्य सेवा में लगें हम, पीड़ितों के प्यार में ।
भय नहीं है अब कहीं भी,
आप प्रतिपल साथ हैं ।। जो भटकते. ।।

– 'विदेह'

दैवी आदेश और धर्म-महासभा

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

इस समय मैं वाराणसी से विदा ले रहा हूँ; परन्तु जब लौटूँगा, तो समाज पर बम की भाँति फट पड़ूँगा और समाज कुत्ते की भाँति मेरे पीछे चलेगा।[१]

मैं एक ऐसे धर्म का प्रचार करने जा रहा हूँ, बौद्धधर्म जिसकी एक विद्रोही सन्तान है और ईसाई धर्म – अपने समस्त दावों के बावजूद – एक हल्की प्रतिध्वनि मात्र है।[२]

प्रभु ने मुझे इसी काम के लिए बुलाया है। जीवन भर मैं अनेक कष्ट उठाता रहा हूँ। मैंने अपने प्राणप्रिय सम्बन्धियों को प्राय: अनाहार मरते देखा है। लोगों ने मेरी खिल्ली उड़ायी, अवज्ञा की और कपटी कहा। ये वे ही लोग हैं, जिनके प्रति सहानुभूति रखने का मुझे यह फल मिला। वत्स, यह संसार दुख का आगार तो है, पर यही महापुरुषों के लिए शिक्षालय है। इस दुख से ही सहानुभूति, सहिष्णुता और सर्वोपरि उस अदम्य दृढ़ इच्छाशक्ति का विकास होता है, जिसके बल पर मनुष्य सारे जगत् के चूर-चूर हो जाने पर भी जरा भी विचलित नहीं होता।[३]

मुझे मुक्ति और भक्ति की परवाह नहीं। मुझे लाखों नरकों में जाना स्वीकार है, **वसन्तवत् लोकहितं चरन्तः** – वसन्त की भाँति लोगों का हित में लगे रहना – यही मेरा धर्म है।[४]

लोग उन्हें (श्रीरामकृष्ण) स्वीकार करें या न करें – इसकी मुझे जरा भी परवाह नहीं; केवल उनके उपदेश, जीवन और शिक्षाएँ जिस उपाय से संसार में प्रचारित हों, उसी के लिए प्राणों का होम कर प्रयत्न करता रहूँगा।[५]

हाँ, मेरा अपना जीवन किसी एक महान् व्यक्ति के उत्साह के द्वारा प्रेरित है, पर इससे क्या? कभी भी केवल एक व्यक्ति द्वारा सारे संसार को प्रेरणा नहीं मिली!

सचमुच, मेरा विश्वास है कि रामकृष्ण परमहंस ईश्वर-प्रेरित थे। परन्तु मैं भी प्रेरित किया गया हूँ और तुम भी प्रेरित किये गये हो। तुम्हारे शिष्य भी ऐसे ही होंगे और उनके बाद उनके शिष्य भी। चिर काल तक यही क्रम चलेगा।[६]

मैं किसी के भी कथनानुसार नहीं चलूँगा। मैं स्वयं जानता हूँ कि मेरे जीवन का क्या व्रत है! किसी राष्ट्र-विशेष के प्रति न तो मेरा तीव्र अनुराग है और न घोर विद्वेष ही। मैं जैसे भारत का हूँ, वैसे ही समग्र जगत् का भी हूँ।... कौन-सा देश मुझ पर विशेष अधिकार का दावा कर सकता है? क्या मैं किसी देश का गुलाम हूँ?[७]

मुझे अपने पीछे एक ऐसी शक्ति दिखायी दे रही है; जो मनुष्य, देवता या शैतान की शक्तियों से कहीं अधिक सामर्थ्यवान है।[८]

मैं कायरता से घृणा करता हूँ। कायरों तथा राजनैतिक मूर्खता के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरा किसी भी प्रकार की राजनीति (Politics) में विश्वास नहीं है। ईश्वर तथा सत्य ही जगत् में एकमात्र राजनीति हैं, बाकी सब कूड़ा-करकट है।[९]

सत्य ही मेरा ईश्वर है और समग्र विश्व मेरा देश है।[१०]

अमेरिका प्रस्थान करने के पूर्व मैंने माँ को लिखा था कि वे मुझे आशीर्वाद दें। उनका आशीर्वाद आया और मैंने एक ही छलाँग में समुद्र पार कर लिया।[११]

मेरा मन कहता है कि अमेरिका में जो तैयारियाँ हो रही हैं, वह सब (अपनी ओर संकेत करते हुए) इसी के लिए हो रही हैं। तुम शीघ्र ही इसकी वास्तविकता देख सकोगे।[१२]

मैं उन्हें ऐसा रूखा और कठोर तर्क देना चाहता हूँ, जो योग की रसोई में, प्रेम के अति मधुर रस में पकाकर नरम किया गया हो और उत्कट कर्म से चटपटा मसालेदार बना हो, ताकि उसे एक शिशु भी सहज रूप से पचा सके।[१३]

हिन्दू भावों को अंग्रेजी में व्यक्त करना, फिर शुष्क दर्शन, पेचीदी पौराणिक कथाओं तथा अनूठे अद्भुत मनोविज्ञान से एक ऐसे धर्म का निर्माण करना; जो सरल, सहज तथा लोकप्रिय हो और साथ ही उन्नत हृदयों को सन्तुष्ट भी कर सके – इस कार्य की कठिनाइयों को वे ही समझ सकते हैं, जिन्होंने इसका बीड़ा उठाने का प्रयत्न किया हो। अद्वैत के गूढ़ सिद्धान्तों में कविता का रस और नित्य के कार्यों में जीवनदायिनी शक्ति उत्पन्न करनी है; अत्यन्त उलझी हुई

पौराणिक कथाओं में से साकार नीति के नियम निकालने हैं; और बुद्धि को बहकानेवाली योग-विद्या से अत्यन्त वैज्ञानिक और क्रियात्मक मनोविज्ञान का विकास करना है – यह सब ऐसे रूप में लाना पड़ेगा कि बच्चा-बच्चा तक इसे समझ सके। मेरे जीवन का यही कार्य है।[१४]

मैंने सोचा कि भारत को तो अब देख लिया – चलो अब किसी और देश को आजमाया जाय। उसी समय तुम्हारी धर्म -महासभा होनेवाली थी और वहाँ भारत से किसी को भेजना था। मैं तो एक घुमक्कड़ था, परन्तु मैं बोला, "यदि मुझे भेजा जाय, तो मैं जाऊँगा। मेरा कुछ बिगड़ता तो है नहीं और यदि बिगड़े भी, तो मुझे परवाह नहीं।" पैसा जुटाना मुश्किल था, तो भी बड़ी मेहनत के बाद मेरे किराये मात्र के लिये रुपये एकत्र हुए। बस, मैं यहाँ आ पहुँचा, परन्तु दो एक महीने पहले ही! क्या करता – न किसी से जान, न पहचान! सड़कों पर यहाँ-वहाँ भटकने लगा।[१५]

मैं अमेरिका गया, मेरी या तुम्हारी इच्छा से नहीं, वरन् भारत के भाग्य-विधाता परमात्मा ने मुझे वहाँ भेजा और वे ही इसी भाँति सैकड़ों लोगों को दुनिया के अन्य सभी देशों में भेजेंगे। दुनिया की कोई भी ताकत इसे रोक नहीं सकती।[१६]

अमेरिका की ओर

याकोहामा, जापान, १० जुलाई, १८९३ – अपनी गतिविधियों की तुम लोगों को लगातार सूचना न देते रहने के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। यात्रा के दौरान जीवन काफी व्यस्त रहता है; और विशेषत: मेरे लिये तो बहुत-सा सामान अपने साथ रखना और उनकी देखभाल करना – एक नयी बात है। इसी में मेरी काफी शक्ति लग रही है। यह सचमुच एक बड़े झंझट का काम है।

बम्बई से कोलम्बो पहुँचा। हमारा स्टीमर वहाँ प्राय: दिन भर ठहरा था। इस बीच स्टीमर से उतरकर मुझे शहर देखने का मौका मिला। गाड़ी में बैठकर सड़कों पर निकला; वहाँ की सभी वस्तुओं में भगवान बुद्ध की निर्वाण के समय की लेटी हुई मूर्ति की याद मेरे मन में अभी तक ताजी है।...

दूसरा स्टेशन पेनांग था, जो मलय प्रायद्वीप में समुद्र के किनारे का एक छोटा सा टापू है।... पेनांग से सिंगापुर जाते हुए हमें उच्च पर्वत-मालाओं से युक्त सुमात्रा द्वीप दिखायी दिया। जहाज के कप्तान ने संकेत करके मुझे समुद्री डाकुओं के बहुत-से पुराने अड्डे दिखाये।

सिंगापुर... में एक सुन्दर वनस्पति-उद्यान है, जिसमें ताड़ जाति के तरह-तरह के वृक्षों का अच्छा संकलन है। यहाँ पंखेनुमा पत्तोंवाले ताड़ के पेड़ों की बहुतायत है, जिन्हें 'यात्री ताल-वृक्ष' कहा जाता है और ब्रेड फ्रूट (Bread Fruit) नामक पेड़ तो सर्वत्र दीख पड़ते हैं। जैसे मद्रास में आम के पेड़ों की बहुतायत है, वैसे ही वहाँ मैंगोस्टीन नामक फल बहुत होता है। पर आम तो आम ही है, उसके साथ भला किस फल की तुलना हो सकती है?...

इसके बाद हांगकांग आता है। यहाँ चीनी लोग इतनी अधिक संख्या में हैं कि यह भ्रम हो जाता है कि हम चीन ही पहुँच गये हैं। ऐसा लगता है कि सभी श्रम, व्यापार आदि इन्हीं के हाथों में है। और हांगकांग तो वास्तव में चीन ही है। जहाज ज्योंही वहाँ लंगर डालता है, त्योंही सैकड़ों चीनी डोंगियाँ तट पर ले जाने के लिए घेर लेती हैं।...

हांगकांग में हम लोग तीन दिन रहे और वहाँ से कैंटन देखने गये। यह शहर एक नदी के चढ़ाव की ओर हांगकांग से अस्सी मील पर है।... वहाँ की भीड़भाड़ और व्यस्त जीवन का क्या कहना? नावें तो इतनी अधिक हैं मानो उनसे नदी ही पट गयी हो! ये नावें केवल व्यापार के ही काम नहीं आतीं, बल्कि सैकड़ों ऐसी भी हैं, जिनमें लोग घरों की भाँति रहते हैं। इनमें से बहुत-सी अच्छी और बड़ी हैं। वस्तुत: ये बड़े-बड़े दुमंजिले या तिमंजिले मकान हैं, जिनके चारों ओर बरामदा है और बीच में रास्ते; और सब पानी पर तैरते हैं।

जिस छोटे-से भूखण्ड पर हम उतरे, वह चीन सरकार द्वारा विदेशियों के रहने हेतु दी गयी है। हमारे चारों ओर, नदी के दोनों किनारों पर मीलों तक यह बड़ा नगर बसा हुआ है – एक विशाल जनसमूह, जिसमें निरन्तर कोलाहल, धक्कामुक्की, चहल-पहल और परस्पर स्पर्धा का ही बोलबाला दीख पड़ता है। पर इतनी आबादी, इतनी क्रियाशीलता होते हुए भी ऐसा गन्दा शहर मैंने अब तक नहीं देखा। भारत में जिसे गन्दगी कहते हैं, उस दृष्टि से नहीं – चीनी लोग कूड़े का एक तिनका भी बर्बाद नहीं होने देते – वरन् इस दृष्टि से कि इन्होंने मानो कभी न नहाने की कसम खा ली हो।...

मैं बहुत-से चीनी मन्दिरों में गया। कैंटन में जो सबसे बड़ा मन्दिर है, वह प्रथम बौद्ध सम्राट् और सबसे पहले बौद्ध धर्म स्वीकार करनेवाले पाँच सौ व्यक्तियों के स्मारक के रूप में है। मन्दिर के बीचोबीच बुद्धदेव की मूर्ति स्थापित है, उसके नीचे सम्राट् की और दोनों ओर शिष्य-मण्डली की मूर्तियों की कतारें हैं। ये सभी लकड़ी पर खूबसूरती से नक्काशी करके बनायी गयी हैं।

कैंटन से मैं हांगकांग लौटा और वहाँ से जापान पहुँचा। पहला बन्दरगाह नागासाकी था, जहाँ हमारा जहाज कुछ घण्टों के लिए ठहरा और हम लोग गाड़ी में बैठकर शहर घूमने गये। चीनियों में और इनमें कितना अन्तर है! सफाई में जापानी लोग दुनिया में किसी से कम नहीं हैं। सभी वस्तुएँ साफ-सुथरी हैं। सड़कें प्राय: सब चौड़ी, सीधी, सम और पक्की हैं। उनके मकान पिंजड़ों की भाँति छोटे हैं और

(शेष अगले पृष्ठ पर)

साधना, शरणागति और कृपा (८/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(निम्नलिखित प्रवचन पण्डितजी द्वारा रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में ३१ जनवरी से ५ फरवरी १९९४ ई. तक प्रदत्त हुआ था। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ इसे टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

इसके बाद सतीजी का हिमालय के घर में पुर्नजन्म होता है। यहाँ संकेत यह है – बुद्धिमान व्यक्ति जब किसी की निन्दा करता है, तो कहता है कि तेरी बुद्धि में तो पत्थर पड़ गया है, तेरी बुद्धि जड़ हो गई है। देह छोड़ते समय सतीजी ने प्रार्थना की कि अब अगले जन्म में चतुर की बेटी मत बनाइएगा, पत्थर की बेटी भले ही बना दीजिए और पत्थर भी है, तो कोई छोटा-मोटा नहीं – अडिग हिमालय, जो निष्ठावान है, कभी डिगता नहीं। सतीजी अब उन्हीं हिमालय की पुत्री के रूप में जन्म लेती हैं।

सती शरीर के बाद इस जन्म में श्रद्धा का श्रीगणेश हुआ। नारदजी ने हस्तरेखा देखकर यदि सब कुछ बता दिया होता, तो आगे चलकर पार्वतीजी के द्वारा जो साधना का वर्णन हुआ, वह न होता। इसका सूत्र यह है कि प्रारम्भ में ही यदि अन्तिम बात बता दी जाय, तो कभी-कभी साधक पर उसका उल्टा ही प्रभाव पड़ने की सम्भावना हो जाती है।

ब्रह्मलीन स्वामी श्री अखण्डानन्दजी महाराज ने बताया था कि श्री उड़िया बाबाजी महाराज वाराणसी में आए। तब तक स्वामीजी महाराज उनके पास नहीं गये थे। बाद में, अन्तिम वर्षों में तो स्वामीजी महाराज श्री उड़िया बाबाजी के सान्निध्य में ही रहे। उन दोनों में अथाह प्रेम था। श्री उड़िया बाबाजी के प्रति उनकी गुरुभावना थी। पर उन्होंने एक घटना सुनाई कि वे प्रारम्भ में एक ऐसे संन्यासी से दीक्षित थे, जो आन्तरिक रूप से माँ-सारदा से, श्रीरामकृष्णदेव की भावधारा से जुड़े हुए थे।* वे एकान्त में कुटिया बनाकर गंगा किनारे रहते थे। स्वामीजी छोटी अवस्था में उनके पास सत्संग के लिये जाया करते थे। वे संन्यासी बहुत उत्कृष्ट साधनाओं के ज्ञाता थे। स्वामीजी ने उनसे अनुरोध किया कि आप मुझे कोई ऐसा मंत्र बताइए, जिससे भगवान श्रीकृष्ण का दर्शन हो। उसका आग्रह था कि मैं वेदान्त के तत्त्वज्ञान को तब स्वीकार करूँगा, जब भगवान कृष्ण प्रगट होकर अपने मुख उसका उपदेश देंगे। स्वामीजी महाराज ने उनको एक मंत्र बताया और विधि बताई कि तुम इतनी संख्या में, इस विधि

* स्वामी योगानन्द, स्वामी नित्यानन्द के शिष्य थे। नित्यानन्दजी का पूर्वनाम योगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय था। कलकत्ते के वराहनगर में रहते थे। वराहनगर मठ में आते-जाते थे। १८९७ ई. में आलमबाजार मठ में स्वामी विवेकानन्द से संन्यास-दीक्षा मिली। कुछ काल स्वामी महुला (सारगाछी) ग्राम में रामकृष्ण मिशन के राहत-कार्य में योगदान किया, तदुपरान्त बारीशाल गये और वहाँ नरोत्तमपुर ग्राम में आश्रम तथा अनेक शिष्य बनाये। १८ जून १९१३ को देहत्याग। आश्रम का नाम – 'श्रीरामकृष्ण-नित्यानन्द आश्रम'। स्वामी योगानन्दजी इन्हीं के शिष्य थे। (द्र. श्रीरामकृष्ण-परिक्रमा, बँगला ग्रन्थ, सं. २००३, खण्ड १, पृ. १९६; विवेक-ज्योति, अंक दिसम्बर २०१०, पृ. ५७९)

पिछले पृष्ठ का शेषांश

प्राय: प्रत्येक कस्बे और गाँव की बस्तियों के पीछे सदाबहार चीड़ वृक्षों से परिपूर्ण हरी-भरी पहाड़ियाँ हैं।... जापान सौन्दर्य-भूमि है ! प्राय: हर घर के पिछवाड़े जापानी ढंग का सुन्दर बगीचा रहता है। इन बगीचों के छोटे-छोटे लता-वृक्ष, हरे-भरे घास के मैदान, छोटे-छोटे जलाशय और नालियों पर बने हुए छोटे-छोटे पत्थर के पुल बड़े सुहावने लगते हैं।

नागासाकी से हम कोबे पहुँचे। यहाँ जहाज से उतरकर मैं जापान का मध्य भाग देखने के लिये स्थल-मार्ग से याकोहामा आया।... यहाँ मैंने बहुत से मन्दिर देखे। हर मन्दिर में प्राचीन बंग लिपि में कुछ संस्कृत मंत्र लिखे हुए हैं।[१७]

सन्दर्भ-सूची – **१.** The Life of Swami Vivekananda, Advaita Ashrama, 1989, Vol 1, P. 248; **२.** The Master as I saw Him, Sister Nivedita, सं.१९६२, पृ. १९७; **३.** विवेकानन्द साहित्य, प्रथम सं., खण्ड १, पृ. ४०४; **४.** वही, खण्ड २, पृ. ३६२; **५.** वही, खण्ड ३, पृ. ३५१; **६.** The Master as I saw Him, Sister Nivedita, सं.१९६२, पृ. २०७ तथा विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. १३६; **७.** वही, खण्ड ४, पृ. ३४५; **८.** वही, खण्ड ४, पृ. ३४५; **९.** वही, खण्ड ४, पृ. ३४६; **१०.** वही, खण्ड ४, पृ. ३३९; **११.** वही, खण्ड २, पृ. ३६१; **१२.** Swami Vivekananda in the West : New Discoveries, Advaita Ashrama, 1999, Vol 1, P. 67; **१३.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पृ. ३८६; **१४.** वही, खण्ड ४, पृ. ३८६; **१५.** वही, खण्ड १०, पृ. १४; **१६.** वही, खण्ड ५, पृ. ११८; **१७.** वही, खण्ड १, पृ. ३९४-९७

❖ (क्रमश:) ❖

से जप करो। स्वामीजी वह अनुष्ठान कर रहे थे। तभी श्री उड़िया बाबाजी महाराज वाराणसी पधारे। तब तक स्वामीजी का उनसे कोई परिचय नहीं था। वे उस समय एक युवक गृहस्थ थे और श्री उड़िया बाबाजी का नाम बड़ा प्रसिद्ध था। उन्होंने अपने गुरु से कहा – महाराज, यहाँ से वाराणसी बहुत पास है, वहाँ श्री उड़ियाबाबाजी महाराज पधारे हुए हैं; यदि आपकी आज्ञा हो, तो मैं जाऊँ और दर्शन करके आ जाऊँ। उन्होंने कहा – नहीं, मेरी आज्ञा है कि तुम उनका दर्शन करने नहीं जाओगे।

वे बताते थे कि उस समय मुझे थोड़ा कष्ट हुआ और मन में लगा कि इतने बड़े साधु होकर भी ये ईर्ष्या की भावना से मुक्त नहीं हैं। ये नहीं चाहते कि इनका चेला अन्य किसी के पास जाय। तभी तो मुझे रोक रहे हैं। उड़िया बाबाजी बनारस से वृन्दावन चले गये। परन्तु जब साधना पूर्ण हुई, उनके संकल्प पूरे हो गये, तब एक अनोखी बात हुई। गुरुजी ने कहा – तुम कल प्रात:काल वृन्दावन जाकर उड़िया बाबाजी का दर्शन कर आओ। बोले – महाराज, बाबा यहाँ आए थे, तब तो आपने मुझे जाने से रोक दिया और अब कहते हैं कि इतनी दूर वृन्दावन चले जाओ। बोले, "वे तो बड़े धाराप्रवाह वेदान्ती हैं; उस समय तुम यह जो साधन कर रहे थे, उस दौरान यदि तुम उनके वेदान्त का श्रवण कर लेते, तो उस साधन से विचलित हो जाते। इसलिये तुम्हें मैंने जाने से रोका था। अब जब तुम्हारी वह धारणा परिपक्व हो गई है, अब कोई भय नहीं है, तब तुम्हें मैं भेज रहा हूँ।"

उनका अभिप्राय यह था कि चाहे कोई कितने भी उत्कृष्ट महात्मा हों, पर उनका ज्ञान यदि तुम्हें अपनी साधना से विरत कर दे, तो न तुम्हारे साधन में परिपक्वता आ पायेगी और न तुम्हारी धारणा परिपक्व होगी। वहाँ तुम्हें सुनने को मिलेगा कि सगुण-साकार ब्रह्म केवल माया का ही एक रूप है। इसके फलस्वरूप तुम्हारे मन की उत्कृष्ट भावना नष्ट हो जायगी, सम्भव है कि तुम साधना ही छोड़ दो। साधक के लिये आवश्यक है कि वह इतनी ऊँची बातें न सुन ले, जो उसकी वर्तमान साधना में द्वन्द्व पैदा कर दे। कथा की एक समस्या यह भी है कि उसमें ऊँची-से-ऊँची बात कही जाती है। बात चाहे जितनी ऊँची हो, पर साधक को सर्वदा समझना चाहिए कि वह उसके लिए उपयोगी नहीं है। साधना की अपनी एक पद्धति है। नारदजी सब जानते हैं।

अब साधना का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है व्याकुलता – अन्त:करण में तीव्र लालसा। जब हम केवल एक यंत्र के रूप में साधना करते हैं, तो भी वह साधना होती है। परन्तु साधना करते-करते उत्कण्ठा इतनी प्रबल हो जाय, इतनी व्याकुलता हो कि एक क्षण के लिये भी न रहा जाय। साधन करते समय तो लगता है कि साधन करते-करते जरा थक गये हैं, तो थोड़ा कुछ अन्य साधन कर लें। परन्तु, जैसे प्यासा व्यक्ति तो वह है, जिसे पानी दिया जाय और वह पी ले; और दूसरा प्यासा व्यक्ति ऐसा है, जिसे लगने लगे कि जल नहीं मिला, तो प्राण चले जायेंगे। उसकी प्यास की जो व्याकुलता है, वह साधना का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। वह व्याकुलता तब होती है, जब व्यक्ति साधना करता है।

नारदजी बड़े महान् गुरु हैं। उन्होंने पार्वतीजी का हाथ देखा, तो उनके माता-पिता को बता दिया, "तुम्हारी पुत्री बड़ी गुणवती है, संसार में इसका बड़ा नाम होगा, बड़ी कीर्ति होगी, सब लोग इसकी पूजा करेंगे। पर तुम्हारी पुत्री के हाथ में कुछ विचित्र रेखाएँ भी हैं!" – क्या? बोले – इसके हाथ की रेखाएँ बताती हैं कि इसको कैसा पति मिलेगा। माता-पिता और भी उत्सुक हो गये, क्योंकि वे तो कन्या के भविष्य के लिए चिन्तित होते ही हैं। बोले – तुम्हारी कन्या के हाथ की रेखाएँ बताती हैं कि इसका वर – गुणहीन, मानहीन, मातृ-पितृ-रहित, उदासीन, बेपरवाह, जोगी, जटाधारी, निष्काम-हृदय, नंगा और अमंगल वेशवाला होगा –

अगुन अमान मातु पितु हीना ।
उदासीन सब संसय छीना ।।१/६७/७-८
जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष ।
अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख।।१/६७

साधना की कैसी अनोखी पद्धति है? नारदजी सब कुछ जानते हैं कि ये सारे गुण शंकरजी के हैं। परन्तु उनके वर्णन का परिणाम क्या हुआ? सुनते ही हिमांचल और मैना इतने व्याकुल हो गये कि बोले – "हमारी कन्या का गुण ही क्या रह गया! जब ऐसा पागल, नंगा और अकाम पति मिलेगा, तो वह वर किस काम का होगा और ऐसे वर के साथ कौन कन्या सुखी होगी?" नारदजी यही चाहते थे कि ये व्याकुल हो जायँ। वे लोग जब व्याकुल हो गये, तो पूछा – महाराज, इसका उपाय क्या है? तब तो उन्होंने और डरा दिया – देखो हिमांचल, ब्रह्मा ने किसी के भाग्य में जो लिख दिया है, उसे देवता, मुनि, मनुष्य – कोई भी नहीं बदल सकता –

कह मुनीस हिमवंत सुनु, जो बिधि लिखा लिलार ।
देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनिहार ।। १/६८

और घबराये। फल जानने का क्या फल हुआ? आतंक में वृद्धि हो गयी – आप कहते हैं कि बदलेगा नहीं! सन्त बोले – वैसे एक विधि है। सन्तगण कभी-कभी ऐसी पद्धति से विधि को रखते हैं कि साधक को सचमुच वह महत्त्वपूर्ण प्रतीत हो। चरनदासजी का एक बड़ा प्रसिद्ध पद है। उनके शिष्य ने एकान्त में पूछा – आप तो बार-बार उपदेश देते हैं, बड़े ऊँचे उपदेश होते होंगे। बोले – होते होंगे। – सबके सामने आप जो उपदेश देते हैं और मुझे जो बताते हैं, उसमें क्या अन्तर है? वे बोले – मैं सबको ज्ञान की असंख्य बातें

बताता रहता हूँ, पर सार-तत्त्व अलग रखता हूँ, बाहर का व्यक्ति हो तो छिपा लेता हूँ और अपना हो तो बता देता हूँ –

चौदह कोटि ग्यान तोहि भाखौं ।
सार वस्तु बाहर करि राखौं ।।
अपना होय तो देउँ बताई ।
दूजा होय तो देउँ छिपाई ।।

पहले इस गुरु-शिष्य-प्रणाली को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। परम्परिया गुरु-शिष्यवाली बात तो परम्परा ढोनेवाली बात है। तो जो सार-तत्त्व है, उसे ऐसे नहीं बताया जाता।

हिमाचल और मैना जब व्याकुल हो गये कि अब क्या होगा, तो बोले – "अच्छा, एक उपाय है, जिससे ज्योतिष का फल भी पूरा हो जायगा और तुम्हारी पुत्री को सर्वोत्कृष्ट वर भी मिल जायगा। वर के मैंने जितने दोष बताए हैं, ये सब शंकरजी में मिलते हैं। तो यदि इस कन्या का विवाह किसी तरह शंकरजी से हो जाय, तो शंकरजी के दोष तो दोष नहीं होते, उन्हें तो गुण माना जाता है –

जौं बिबाहु संकर सन होई ।
दोषउ गुन सम कह सबु कोई ।। १/६९/४

बोले – भावी को शंकरजी ही मिटा सकते हैं और यदि उनको पाना है, तो तुम्हारी कन्या को तप करना होगा –

जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी ।
भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी ।। १/७०/७

तप नहीं करतीं, तो क्या जो होनेवाला था, वह न होता? क्या किसी और से विवाह हो जाता? यह अन्त:करण की शुद्धि की शैली है – श्रद्धा को परिपक्व रूप देने के लिए क्या किया जाय? किसी ने पूछा – हम संन्यास लें या न लें? बोले – वह तो अपने आप हो जायगा। परन्तु पहले कच्चे घड़े को पकाओ। क्योंकि यदि कच्चा घड़ा पानी में डाला जाय, तो वह पानी में जाते ही गल जायगा –

बिगरत मन संन्यास लेत, जल नावत आम घरो सो ।।
(विनय-पत्रिका १७३/४)

यह तपस्या ही अग्नि है। तपस्या का अर्थ है – मन को वैसे ही पकाना, जैसे मिट्टी के कच्चे बर्तन को पकाते हैं।

पार्वतीजी ने अपने चरित्र के द्वारा साधना का पूरा क्रम प्रस्तुत किया। नारदजी बोले – तुम्हारी कन्या जाकर तपस्या करे और तब शंकरजी भावी को जरूर मिटा सकते हैं। माता-पिता बड़े दुखी हुए – इतनी सुकुमार कन्या, यह जाकर तपस्या करे। पार्वतीजी ने उनके हृदय की पीड़ा का समाधान कर दिया। बोलीं – माँ, आज मुझे स्वप्न में एक ब्राह्मण ने आदेश दिया है कि मैं जाकर तपस्या करूँ। बोले – हाँ, नारदजी ने भी यही कहा था – अच्छा बेटी, तुम जाओ।

इसके बाद बुद्धि की बड़ी लम्बी यात्रा है। जब वे तपस्या कर रही हैं, तो सप्तर्षि परीक्षा लेने आ गये। शंकरजी बोले – जाकर देखो, घड़ा कितना पका है! अभी कुछ बाकी है क्या? परीक्षा लेकर देखो, क्या स्थिति है! सप्तर्षियों ने जाकर कहा – क्यों तपस्या कर रही हैं आप? बिना तपस्या के ही हम आपको ऐसा सर्वश्रेष्ठ पति मिला देंगे, जो परम सुन्दर, पवित्र, सुखदायी तथा सुशील है, जिसका यश तथा लीला वेद भी गाते हैं, जो निर्दोष तथा सारे गुणों की राशि है, जो लक्ष्मी का स्वामी और वैकुण्ठ का निवासी है –

अति सुंदर सुचि सुखद सुसीला ।।
गावहिं बेद जासु जस लीला ।।
दूषन रहित सकल गुन रासी ।
श्रीपति पुर बैकुंठ निवासी ।।
अस बरु तुम्हहि मिलाउब आनी ।। १/८०/१-४

इसके लिये तुम्हें न तपस्या करनी पड़ेगी, न प्रतीक्षा! भगवान विष्णु आयेंगे, तुमसे विवाह का प्रस्ताव करेंगे और उनके साथ तुम्हारा विवाह हो जायगा। बड़ी कठिन परीक्षा थी। कहीं से भी कच्चापन होता, तो सोचतीं कि छोड़ो तपस्या, चलो, इतना सुन्दर पति यदि बिना तपस्या के मिल रहा है, तो और क्या करना है? परन्तु पार्वतीजी ने तो एक ही वाक्य में सप्तर्षियों को मौन कर दिया। उन्होंने कहा – महाराज, यह तो मन की एक वृत्ति है, मन का एक आनन्द है, अब उसमें क्या किया जाय –

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम ।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम ।। १/८०

साधक के मन में दृढ़ता होनी चाहिये, क्योंकि उसके समक्ष बहुत-से प्रलोभन हो सकते हैं, अनेक ऐसी बातें कही जा सकती हैं कि यह मार्ग बड़ा सीधा और सरल-सा है, परन्तु पार्वतीजी ने उस प्रलोभन को भी ठुकराते हुए यहाँ तक कह दिया – आपने जो बात कही, वह सब ठीक है, पर मैं तो नारदजी ने जो उपदेश दिया है, उसी के अनुकूल चलूँगी; इससे घर बसे या उजड़े, मैं अपनी निष्ठा नहीं त्यागूँगी –

नारद बचन न मैं परिहरऊँ ।
बसउ भवनु उजरउ नहिं डरऊँ ।। १/७९/७

सप्तर्षि और भी कड़ी परीक्षा लेने लगे – अच्छा, हमारा कहना तो नहीं मान रही हो, पर यदि शंकरजी स्वयं आकर कहें कि नारदजी ने सही नहीं कहा, तो क्या करोगी? बड़ी कठिन परीक्षा है। जिन्हें वे पाना चाहती हैं, यदि वे ही आकर कह दें तो! पार्वतीजी ने बेझिझक कह दिया – यदि शंकरजी भी एक बार नहीं, सौ बार कहें, तो भी नहीं मानूँगी –

तजउँ न नारद कर उपदेसू ।
आपु कहहिं सत बार महेसू ।। १/८०/६

इसमें क्या रहस्य है? आप गहराई से इसके मनोवैज्ञानिक अर्थ पर विचार करें। जिस साधन के द्वारा मुझे इष्ट को पाना है, साधना-काल में वही मेरे लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

यदि शंकरजी कहें कि तुम साधना छोड़ दो, मुझसे प्रेम करना छोड़कर विष्णु से विवाह कर लो। तो हम अपने आराध्य के कहने पर सब कुछ छोड़ सकते हैं, पर यदि वे कहें कि मुझी से प्रेम करना छोड़ दो, तो हम कैसे माने ! ऐसी परिस्थिति में तो हम गुरु की बात ही मानेंगे। कितनी सजगता है उनमें !

सप्तर्षि गद्‌गद् हो गये और उन्हें प्रणाम करते हुए बोले – आप धन्य हैं। आप माया हैं, शिवजी परमेश्वर हैं और आप दोनों समस्त जगत् के माता-पिता हैं –

तुम्ह माया भगवान सिव
सकल जगत पितु मातु ।
नाइ चरन सिर मुनि चले
पुनि पुनि हरषत गातु ।। १/८१

कभी-कभी बड़ी अनोखी बात आती है। श्रीउड़िया बाबाजी महाराज सुनाया करते थे। जगन्नाथपुरी में एक ब्राह्मण थे, जो अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे। उन्होंने किसी देवी-मंत्र की दीक्षा ली। मंत्र कुछ ऐसे आड़े-टेढ़े होते हैं कि उच्चारण में कठिनाई होती है। वे बड़े प्रेम से उस मंत्र के गलत-सलत उच्चारण के साथ जप किया करते थे। देवी प्रगट हो गईं और उन्हें एक चाँटा लगाया – "अशुद्ध मंत्र का जप करता है? देख, उसका उच्चारण वैसे नहीं ऐसे है। इस तरह उच्चारण करते हुए जप करना चाहिए।" साधक ने देवी के चरण पकड़ लिए, बोले – माँ, आपकी सारी बातें हम मानेंगे, पर यह नहीं मानेंगे। – क्यों? बोले – "जिस अशुद्ध उच्चारण के प्रताप से आपको आना पड़ा, उस मंत्र को छोड़कर मैं शुद्ध मंत्र नहीं जपूँगा।"

पार्वतीजी कहती हैं कि जिन नारद की कृपा से हमें शंकर मिलेंगे, उनकी बात छोड़ शंकरजी की बात कैसे मान लूँगी? नारद का उपदेश मैं नहीं छोड़ूगी। यही साधना का तत्त्व है।

इस प्रकार आप देखते हैं कि बड़ी लम्बी यात्रा करने के बाद, अनेक समस्याएँ तथा कठिनाइयों से पार पाने के बाद, तब सतीजी का पार्वतीजी के रूप में शिवजी से विवाह होता है। बुद्धि को श्रद्धा बनने में बड़ा लम्बा समय लगता है। बुद्धिमता जितनी अधिक होगी, उसे श्रद्धा बनने में उतना ही अधिक समय लगेगा। यह बड़ी विचित्र कठिनाई की स्थिति है। विवाह के बाद शंकरजी ने उनको अपना आधा शरीर बनाकर अपने में मिलाकर एक बनाया, परन्तु कब बनाया?

पार्वतीजी नित्य 'विष्णु-सहस्रनाम' का पाठ किया करती थीं और उसके बाद ही भोजन करती थीं। एक दिन भगवान शंकर ने देखा कि उससे सेवा में विलम्ब हो गया। बोले – आप भी नित्य के समान मेरे साथ भोजन करें। पार्वतीजी ने कहा – "महाराज, अभी मेरा 'विष्णु-सहस्रनाम' का पाठ पूरा नहीं हुआ है; आप भोजन करे लें, मैं पाठ पूरा होने के बाद भोजन करूँगी।" शंकरजी बोले – आज 'विष्णु-सहस्रनाम' का पाठ करने की जरूरत नहीं है, बस एक बार 'रामनाम' लेने से ही उसका 'सहस्रनाम' के बराबर फल होता है –

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे ।
सहस्र नाम तत्तुल्यं राम नाम वरानने ।।

पार्वतीजी ने सुना और 'राम' नाम लिया। शंकरजी प्रसन्न हो गये। पार्वतीजी ने उनके साथ भोजन किया और भगवान शंकर ने उसी क्षण उनको अपना आधा शरीर बना लिया। वे 'विष्णु-सहस्रनाम' का पाठ नियमित रूप से करती थीं, पर उस दिन शंकरजी ने राम-नाम का माहात्म्य बता दिया।

इसमें एक आशंका भी है कि कहीं यह आलसियों के लिये महामंत्र न बन जाये – बस, एक बार राम-नाम ले लिया तो गंगास्नान हो गया, एक बार राम-नाम ले लिया तो सारे साधन हो गये। सभी शास्त्रों में यही बात है, पर व्यक्ति इसका दुरुपयोग न करने लगे। पाठ करते-करते, साधन करते-करते, जब अन्त:करण में ऐसी वृत्ति आ जाय, तभी लाभ होता है। यह विश्वास सरलता से थोड़े ही आता है – किसी से कह दिया जाय कि हजार-नाम का फल केवल राम -नाम में है, तो व्यक्ति इसे किस गणित के आधार पर मान लेगा? एक ओर तो आपने भगवान के हजार नाम लिए और दूसरी ओर राम-नाम लेने से ही सब कुछ हो गया ! विचित्र बात है ! रामरक्षा-स्तोत्र बड़ा ही सिद्ध मंत्र है, जिसमें भगवान का स्मरण करते हुए उनसे रक्षा की प्रार्थना की जाती है, उसमें भी पाठ के अन्त में यह श्लोक आता है।

एक ऐसी स्थिति आती है, जब इतना परिपक्व विश्वास हो जाता है कि एक ही नाम में सारे नाम समाए हुए हैं। भगवान शंकर बोले – आज धीरे-धीरे तुम्हारी हमारी दूरी कम हुई और आज तुम और हम मिलकर एकाकार हो गये। अब श्रद्धा और विश्वास की संज्ञा अलग नहीं रही। दोनों अभिन्न हो गये। अन्तर यही है कि विश्वास का मार्ग सीधा है और श्रद्धा तथा बुद्धि का मार्ग लम्बा; परन्तु हमें तो उसी मार्ग से चलना होगा, जो हमारे सामने होगा। कोई मार्ग चाहे कितना भी अच्छा क्यों न हो, पर यदि वह आपके मुहल्ले से सुलभ न हो, तो आप लाचार हैं। फिर तो मार्ग चाहे जितना भी लम्बा हो, जितनी भी कठिनाइयों वाला हो, उसी पर चलना होगा। आश्रम के बगल में रहने वाला कोई हो, तो वह बड़ी सरलता से आ पायेगा, किन्तु यह भी आवश्यक नहीं कि वह आ ही जाय, बगलवाले भी नहीं आते। तो वह महान् सूत्र यही है – साधना इसलिए आवश्यक है कि हम जहाँ-जहाँ स्थित हैं, वहीं से चलें, उसी मार्ग और उसी पद्धति से चलें।

मनुजी बड़े धार्मिक हैं। उनमें व्रत और साधना की बड़ी क्षमता है। उन सबका सदुपयोग होना ही चाहिए। कितनी

देर में कौन थकता है, यह अलग-अलग व्यक्तियों के मामले में अलग-अलग है। रामायण में अलग-अलग पात्रों के अनेक प्रसंगों में इस ओर संकेत किया गया है।

कागभुशुण्डि जी बालक राम के साथ नित्य क्रीड़ा करते हैं। आँगन में श्रीराम के मुख से जो जूठन गिर जाता है, उसी का प्रसाद लेकर तृप्त हो जाते हैं। एक दिन भगवान ने एक अनोखी लीला की। कौशल्या अम्बा ने बड़ा सुस्वादु मालपुआ बनाया और आकर बड़े प्रेम से श्रीराम के हाथ में दे दिया। कागभुशुण्डि को लगा कि नित्य की भाँति आज भी प्रसाद मिलेगा। पर आज प्रभु ने एक अनोखा खेल किया। मालपुआ हाथ में लेकर उन्हें दिखाया भी। सोचा, आज तो निमंत्रण दे रहे हैं। जूठन गिराकर नहीं, अपने हाथ से खिलायेंगे। पर पास पहुँचे, तो हाथ खींच लिया। प्रभु की हर भक्त के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रीड़ा होती है। वे किसके साथ कब और कैसा व्यवहार करेंगे, यह उन्होंने इतना रहस्यमय रखा है कि कोई बता नहीं सकता। कोमल करेंगे या कठोर करेंगे, जो आप माँगेंगे वह देंगे या नहीं। कागभुशुण्डि को नित्य प्रसाद देते थे। आज नहीं दिया। कागभुशुण्डि जी थोड़े उदास हो गये। दूर चले गये। भगवान ने फिर दिखाया, तो फिर आ गये। दो-चार बार यही किया, तो बुरा लग गया – "नहीं देना है तो बार-बार बुलाते क्यों हैं? कैसी विचित्र बात है ! मैं तो समझता था कि ये भक्तों की इच्छा पूरी करते हैं, पर ये तो मालपुआ का एक टुकड़ा भी देने को तैयार नहीं हैं।" लिखा है – तब कागभुशुण्डि वहाँ से भागे। बड़ा अनोखा सूत्र है। उन्हें भगवान को फिर पाने के लिए बड़ी लम्बी परिक्रमा करनी पड़ी। बोले –

तब मैं भागि चलेउँ उरगारी ।
राम गहन कहँ भुजा पसारी ।।
जिमि जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा ।
तहँ भुज हरि देखउँ निज पासा ।। ७/७९/७-८

भुशुण्डिजी भाग रहे हैं और भगवान राम की भुजा उनके पीछे-पीछे ! क्या भगवान वहीं नहीं पकड़ सकते थे? पकड़ सकते थे ! पर बोले – उड़ो, जितनी शक्ति है जरूर उड़ो। भुशुण्डिजी को वरदान प्राप्त था – वे सप्तावरण को पार कर सकते थे। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, महत्-तत्त्व, प्रकृति – यहाँ तक उनकी गति थी। बोले –

सप्ताबरन भेद करि
जहाँ लगें गति मोरि ।
गयउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि
ब्याकुल भयउँ बहोरि ।। ७/७९-ख

भगवान कहते हैं – उड़ो, और उड़ो। भगवान देख लेते हैं, यह काफी तन्दुरुस्त है; तो अच्छा है, और मेहनत करे। कोई अधिक मोटा है, तो उसे दुबला बना देंगे। कोई दुबला है, तो उसको मोटा भी बना देंगे। उनका कौतुक बड़ा विचित्र होता है। भुशुण्डिजी भागे चले जा रहे हैं और प्रभु उसे पकड़ने के लिए भुजा फैला रहे हैं। और अन्त में क्या हुआ? फिर से लौट आए। जिन भगवान के पास पहले से थे, उन्हीं के पास आये। कब आये? जितना देख सकते थे, जितना उड़ सकते थे, उड़ लिया, और अब आँखें मूँद ली। – महाराज, अब तो मैं थक गया। तब? ज्योंही नेत्र मूँदे, उन्होंने क्या देखा? जाते समय तो उड़कर जाना पड़ा था, पर आने के लिए क्या किया? थक गये थे, अब क्या करें? इतने थक गये थे कि आँखें मुँद गईं; और जब आँख खोलकर देखते है, तो पाया कि अयोध्या में भगवान के पास हैं।

मूँदेउ नयन त्रसित जब भयऊँ ।
पुनि चितवत कोसलपुर गयऊँ ।। ७/८०/१

यही साधना और कृपा का सूत्र है। – महाराज, आपने इतना चक्कर कटवाया। – तुममें इतनी सामर्थ्य थी कि तुम सप्तावर्ण भेद सकते थे; दौड़ सकते थे, तभी तो दौड़ाया, उड़ सकते थे, इसीलिए उड़ाया। इसलिये भगवान ने भुशुण्डि को थका दिया। पहले वे भगवान को एकदेशीय मानते थे, एक प्रांगण में मानते थे; प्रभु ने उनको सर्वदेश में दर्शन कराया, पर जब चरणों में गिर पड़े और थकान से आँखें मूँद लीं, तो भगवान हँसे और उन्हें मुँह के भीतर ले लिया –

मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं ।
बिहँसत तुरत गयउँ मुख माहीं । ७/८०/२

मुँह में जाकर फिर चक्कर होने लगा। इस प्रकार उन्हें भगवान के उदर में अनेकानेक ब्रह्माण्डों का दर्शन हुआ –

उदर माँझ सुनु अंडज राया ।
देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया ।। ७/८०/३

उसमें सबसे विचित्र हृदय उन्होंने क्या देखा? जितने ब्रह्माण्ड हैं, उन सबमें एक-एक अयोध्या है और हर अयोध्या में दशरथ और कौशल्या हैं, चारों भाई तथा राम भी हैं। पर अधिक आश्चर्य उनको यह देखकर हुआ कि हर जगह एक भुशुण्डि भी बैठा हुआ है। भगवान ने मानो उन्हें दिखाया कि कहीं तुम यह न समझ लेना कि तुम्हीं एक बड़े भारी भुशुण्डि हो। अनन्त ब्रह्म में असंख्य ब्रह्माण्ड और असंख्य भुशुण्डि उसमें चक्कर काट रहे हैं। यह गर्व – यह अभिमान कैसे नष्ट हो? भगवान भुशुण्डिजी को बताना चाहते थे कि तुम अद्वितीय नहीं हो। यह न मान लेना कि सारे ब्रह्माण्ड में मैं ही एक अकेला भुशुण्डि हूँ। अनगिनत भुशुण्डि हैं। कहा जाता है कि ब्रह्मा ने सोचा कि इतना नित्य सृष्टि का कार्य करें और आलोचना भी हो, इससे तो अच्छा कि त्यागपत्र दे दें। त्यागपत्र देने जा रहे थे, तो देखा कि कोई हजारों ऊँट लेकर चला जा रहा है, हर ऊँट पर बड़े-बड़े कोई बैठे हैं। ब्रह्मा ने पूछ दिया – यह सब क्या है? कहाँ ले जा रहे हो? उसने

कहा – "ये हजारों ब्रह्मा लेकर जा रहा हूँ। सुना है कि एक ब्रह्मा त्यागपत्र देने जा रहा है, तो उसका पद इनमें से किसी दूसरे ब्रह्मा को दे देंगे।" ब्रह्मा लौट गये, बोले – नहीं, मैं त्यागपत्र नहीं दूँगा।

साधना के बिना पुरुषार्थ का सदुपयोग नहीं होगा और पुरुषार्थ का सदुपयोग होने पर मिटना अहंकार को ही है। यही कसौटी है। आपका अभिमान एक दिन में मिटे, हजार दिन में, हजार वर्ष में, हजार जन्म में, या लाख जन्म में मिटे, अन्त में सूत्र तो बस एक ही है – अहंकार का नाश। ध्रुव को छह महीने में ही मिल गये और मनु को कई हजार वर्ष लगे। महत्त्व का सूत्र यही है कि आपके पास जो क्षमता है, आलस्य के कारण उसका उपयोग न करके, यह मानकर कि प्रभु तो अकारण कृपा करते हैं, या मैं विश्वास के द्वारा ही भगवान को पा लूँगा, अपने को भ्रम में न डालें। यह सत्य होते हुए भी इस पर आस्था होना सरल नहीं है। इसके लिये आवश्यकता है कि व्यक्ति साधन करते हुए थक जाय –

थके देव साधन करि करि सपनेहु नहिं देत दिखाई ।।

जब यह लगने लगे कि हे प्रभो, मेरी बुद्धि कुण्ठित हो चुकी है, मेरी सारी चेष्टाएँ असफल हो चुकी हैं –

बुद्धिर्विकुण्ठा नाथ समाप्ता मम युक्तयः ।।

ज्योहीं अहं मिटेगा, असमर्थता की अनुभूति होगी, बस, उसी समय हम भगवान की कृपा को ग्रहण कर सकेंगे।

रामायण में जितने साधक हैं, उनकी साधना और मनु के साधना-क्रम में अन्तर है। मनु के जीवन में दिखता है कि वे घर छोड़कर वन में गये और भगवान वन में मिले। विश्वामित्र तो वन में ही रहते थे। उनके मन में जब भगवान को पाने की इच्छा हुई तो पता चला कि भगवान वन में नहीं, नगर में हैं, महल में मिलेंगे। यदि वे किसी से बँधे हुए हों, तो आप किसी न्यायालय में उन पर मुकदमा चला दीजिए कि आप नियम-विरुद्ध कार्य करते हैं। पर विश्वामित्रजी को लगा कि पाना है, तो राजमहल में ही चलो। राजमहल में उनका बड़ा स्वागत हुआ, पर जिन ईश्वर के लिए गये थे, वे ईश्वर – भगवान राम दीख नहीं रहे हैं। कब तक नहीं दिखे? मनु तो हजारों वर्ष तक निराहार रहे और विश्वामित्र तो तपस्वी ही थे। लेकिन भगवान कब सामने आए? दशरथजी विश्वामित्रजी को माला पहना रहे हैं, पूजन कर रहे हैं और तब उनको भोजन परोसते हैं। तब भी श्रीराम नहीं आए। पर ज्योंही भोजन कर चुके, भगवान ने आकर चरणों में प्रणाम किया –

बिबिध भाँति भोजन करवावा ।
मुनिबर हृदयँ हरष अति पावा ।।
पुनि चरननि मेले सुत चारी ।
राम देखि मुनि देह बिसारी ।। १/२०७/४-५

मानो ईश्वर ने कहा कि यह न समझ लेना कि हम केवल उपवास में मिलते हैं। भूखा रखकर भी मिल सकते हैं और भोजन कराकर भी मिल सकते हैं; घर में भी मिल सकते हैं, और वन में भी मिल सकते हैं। इसीलिए मनु को जब दर्शन दिया, उसके पहले एक काम करके तभी सामने आए। तपस्या करते-करते मनु की हड्डी-हड्डी ही रह गई थी –

अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा ।। १/१४५/४

भगवान तो तभी आ सकते थे। पर बिल्कुल नहीं आए। कहीं इन्हें यह न लगे कि मेरी हड्डी-हड्डी रह गई है, इसलिए प्रभावित हो गये। भगवान की कृपामयी वाणी ज्योंही मनु के कान में गई – माँगो माँगो ! तब तक बेचारे इतनी तपस्या कर चुके थे कि असमर्थता की स्थिति में पहुँच गये थे। उस कृपा का फल क्या हुआ? – इतने मोटे हो गए कि देखकर लगा मानो मनुजी अभी-अभी अपने भवन से आए हों –

मृतक जिआवनि गिरा सुहाई ।
श्रवन रंध्र होइ उर जब आई ।।
हृष्ट पुष्ट तन भए सुहाए ।
मानहुँ अबहिं भवन ते आए ।। १/१४५/७-८

भगवान कहते हैं – न तुम्हारे मोटे होने से मुझे कुछ लेना देना है और न दुबले होने से। तुम्हारे हृदय में जब व्याकुलता आयेगी, उत्कण्ठा आयेगी, तभी तुम मेरी कृपा के अधिकारी बन जाते हो। वस्तुतः वे अकारण कृपालु हैं और किसी भी क्षण, किसी से भी मिल सकते हैं। पर हमारे अन्दर जो क्षमता है, उसका हमें उपयोग करना होगा। यह सोचकर कहीं व्रत करना न छोड़ दीजिएगा कि व्रत करने से नहीं मिलते, इसलिए नित्य भोजन करके ही देखते रहें कि अब दर्शन देंगे। ऐसा भी नहीं है।

साधना का उद्देश्य तो बस इतना ही है कि हम अपनी सम्पूर्ण क्षमता का उपयोग करते हुए कृपा के योग्य बनें। तब कृपा तो बस कृपा से ही आती है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

योगसिद्ध चूड़ाला

अक्षय कुमार बन्द्योपाध्याय

योगवाशिष्ठ रामायण में वशिष्ठदेव ने एक आदर्श योगसिद्ध, महीयसी नारी के चरित्र का विस्तार से वर्णन किया है। उनका नाम था चूड़ाला देवी। वे न तो ऋषिकन्या थीं, न ब्रह्मचारिणी थीं और न गृहत्यागी अनिकेत संन्यासिनी ही थीं। वे राजकन्या और राजमहिषी थीं और राजकार्य में निपुण तथा गार्हस्थ-धर्म में निष्ठावान थीं। उनके पिता सौराष्ट्र के राजा थे और पति मालवा के नरेश शिखिध्वज थे।

सुख तथा ऐश्वर्य का भोग करते-करते उनके मन में वैराग्य आया। पति को बिना बताये ही उन्होंने परम तत्त्व की खोज में मन लगाया, परन्तु अपने दैनन्दिन कर्तव्यों के पालन में जरा भी उदासीनता नहीं दिखायी। कुशलता के साथ विचार करने के फलस्वरूप उनकी सभी अनित्य वस्तुओं के प्रति, समस्त राज्य-ऐश्वर्य के प्रति तथा सुख-भोग आदि के प्रति कोई आसक्ति नहीं रह गयी। देह, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि में उनकी अहंता तथा ममता भी चली गयी। उनके बोध में आत्मतत्त्व प्रकट हुआ और वे स्वयं को नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप परमात्मा अनुभव करने लगीं। **स्वल्पेनैव हि कालेन ययौ विदितवेद्यताम्** – अति अल्प काल के भीतर ही वे परम ज्ञान में प्रतिष्ठित हो गयीं। गृहस्थ-जीवन के सारे कर्तव्यों का पालन करते हुए भी वे इतने गुप्त रूप से ज्ञानयोग की साधना के सर्वोच्च सोपान पर पहुँच गयीं कि उनके पति तक को उनकी साधना के विषय में कोई विशेष जानकारी नहीं हुई।

यद्यपि उन्होंने अपनी तत्त्वानुभूति की बात किसी के सामने प्रकट नहीं की, तथापि उनके ज्ञान तथा परमानन्द की दिव्य ज्योति उनके अंग-प्रत्यंग से उद्भासित होने लगी। एक दिन उनके पति का ध्यान उनके अलौकिक ज्योति-मण्डित रूप-लावण्य की ओर आकृष्ट हुआ। उनके दैहिक सौन्दर्य से तो राजा शिखिध्वज अपने विवाह-काल से ही सुपरिचित थे, पर जिस सौन्दर्य का रसास्वादन करते हुए अब तक वे विमुग्ध थे, यह तो उससे कुछ भिन्न वस्तु थी। चूड़ाला के शरीर से यह कौन-सी दिव्य ज्योति, कौन-सा चिन्मय लावण्य प्रकट हो रहा है? उन्होंने रानी से पूछा। ज्ञानमयी पतिव्रता चूड़ाला ने अपने पतिदेव से कुछ भी नहीं छिपाया। उन्होंने अपने अलौकिक रूप-लावण्य का रहस्य सुन्दर ढंग से कह सुनाया। जब व्यक्ति का हृदय कामना-वासना से मुक्त होकर सच्चिदानन्द के प्रेमरस से परिपूर्ण हो जाता है, तब उसके हर अंग-प्रत्यंग से होकर उसी चिदानन्द की तरंगें उठने लगती हैं। राजा शिखिध्वज के लिये तब भी इस अतीन्द्रिय अतिमानस आनन्द-राज्य की बातें समझने का समय नहीं आया था। उन्होंने इसे अपनी विलास-चतुर पत्नी की कल्पना का प्रलाप मानकर ही भुला दिया। तत्त्वदर्शिनी चूड़ाला ने और कुछ नहीं कहा।

एकदा नित्यतृप्ताया निरिच्छाया अपि स्वयम्।
चूड़ालाया वभुवेच्छा लीलया खगमागमे।

नित्यतृप्त इच्छारहित चूड़ाला के अन्त:करण में एक बार अपने आप ही एक इच्छा का उदय हुआ – वे योगाभ्यास के द्वारा आकाश-विहार आदि की सिद्धि प्राप्त करेंगी। उन्होंने सबकी दृष्टि के परे एकान्त में योग की गूढ़ साधना में मनो-नियोग किया। देह-इन्द्रिय-मन आदि पहले से ही उनके वश में थे। उन्होंने कुशलतापूर्वक प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि का अभ्यास करके अपनी आकांक्षित सिद्धि प्राप्त कर ली। योग के अनेक ऐश्वर्य उनके अधिकार में आ गये। उनके तत्त्वज्ञान के साथ योग की सिद्धियों ने मिलकर उनके जीवन को अत्यन्त महिमा-मण्डित कर दिया। तथापि व्यावहारिक जीवन में वे वैसे ही एक कुलवधू तथा राजमहिषी बनी रहीं। अपनी अलौकिक शक्तियों को पूर्णत: पचाकर, अहंता-ममता को भलीभाँति दूर करके, ज्ञानालोक को अपने हृदय में छिपाकर वे अपना लौकिक जीवन चलाने लगीं। अलौकिक ज्ञान तथा शक्तियों को प्राप्त करना जितना कठिन है, उन्हें पचाकर तथा छिपाये रखकर साधारण मनुष्य के समान व्यवहार चलाना, उससे भी अधिक कठिन कार्य है। चूड़ाला को इसमें भी सफलता प्राप्त हुई थी।

कालक्रम से राजा शिखिध्वज के चित्त में भी वैराग्य का उदय हुआ। वे गहरी रात के समय, बिना किसी को बताये, निद्रामग्न चूड़ाला का परित्याग करके महल से बाहर चले गये। जब चूड़ाला की नींद टूटी, तो राजा को घर में न पाकर उन्होंने योगबल से उनकी गतिविधियाँ जान लीं और सूक्ष्म शरीर में उनका अनुसरण किया। राजा घोर जंगल के भीतर जाकर साधना की तैयारी करने लगे। उनके अनजाने ही रानी सब कुछ देखकर राजभवन में वापस लौट आयीं।

अगले दिन रानी ने घोषणा करा दी कि राजा किसी विशेष कार्यवश परदेश गये हैं और उन्होंने स्वयं ही शासन का भार ग्रहण कर लिया। वे यथाविधि अपने पति का कर्तव्य पूरा करने लगीं और उन्हें तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में सहायता करने हेतु उन्होंने अपने ज्ञान तथा योगशक्ति का भी उपयोग किया। पत्नी के लिये पति के गुरु का आसन ग्रहण करना उचित नहीं होगा और पति के लिये भी पत्नी की शिक्षाओं का महत्त्व समझना कठिन होगा – यह सोचकर

उन्होंने अपने योगबल से एक योगी पुरुष का रूप धारण किया और बीच-बीच में पतिदेव के पास जाकर उन्हें तत्त्वज्ञान का उपदेश प्रदान करने लगीं।

शिखिध्वज ने परम शान्ति पाने के निमित्त प्रबल वैराग्य का आश्रय लेकर कठोर तपस्या आरम्भ कर दी थी। परन्तु उनके चित्त में अब तक किसी शान्ति के लक्षण प्रकट नहीं हुए थे। चूड़ाला जब योगी-पुरुष के रूप में उनके पास पहुँचीं, तो शिखिध्वज द्वारा उनका परिचय पूछने पर उन्होंने बताया कि उनका नाम कुम्भ मुनि है और वे देवर्षि नारद के मानस-पुत्र हैं। उन्होंने शिखिध्वज को समझाया कि कठोर तपस्या, बाह्य विषय-वैराग्य तथा कर्मत्याग, देह को कष्ट देना तथा क्षीण बनाना – ये सब वस्तुत: परम शान्ति पाने के समुचित उपाय नहीं हैं। परम शान्ति का उद्‌गम अपनी ही अन्तरात्मा में स्थित है, परम शान्ति अपनी आत्मा का ही स्वरूप है; आत्मा के स्वरूप की अनुभूति से ही परम शान्ति में स्थिति हो जाती है। आत्मा अपने स्वरूप से ही सच्चिदानन्द-घन है और उसके स्वरूप से कभी च्युति नहीं हो सकती। अहंता तथा ममता ही आत्मानुभूति में बाधक हैं; वैषयिक जगत् इसमें बाधक नहीं है, देह-इन्द्रियाँ इसमें बाधक नहीं हैं; बल्कि वैषयिक जगत् तथा देह-इन्द्रियों में अहंता-ममता का बोध रहने पर ही आत्मा आच्छन्न हो जाती है और चित्त दु:ख-ताप आदि से आक्रान्त हो जाता है। अत: अहंत्याग ही मुक्ति है; अहंत्याग ही आत्मानुभूति है और अहंत्याग ही परम विश्रान्ति है। कुम्भमुनि के रूप में देवी चूड़ाला अपने पति को अहंत्याग की उत्कृष्ट साधना के उपदेश देने लगीं।

कुम्भमुनि के उपदेशानुसार शिखिध्वज ने त्याग-तपस्या के बाह्य आडम्बर का परित्याग कर दिया और अहंता-ममता से मुक्ति पाने हेतु सूक्ष्म विचार तथा ध्यान-धारणा में मनोनियोग किया। अनित्य जगत उन्हें मिथ्या प्रतीत होने लगा, आत्मतत्त्व उनके समक्ष निरावरण रूप से प्रकट हुआ। वे अपने अन्तर में परम विश्रान्ति तथा आनन्द का अनुभव करने लगे। जीवन की कृतार्थता का बोध हो जाने से उन्हें अपने राज्य तथा प्रियतमा महारानी की बातें प्राय: विस्मृत हो चुकी थीं। गुरुदेव ने उन्हें अपने राज्य में लौट जाने का उपदेश दिया। पर उन्हें जिस आनन्द का स्वाद मिल चुका था, उसे छोड़कर एक बार फिर मिथ्या जगत् के विक्षेप तथा अशान्ति के बीच, कर्म तथा भोगों के बीच लौट जाने को उनका चित्त राजी नहीं हुआ। उस निर्जन वन में सर्वत्यागी के रूप में ध्यान-समाधि में ही डूबे रहने का संकल्प उनके चित्त में सुदृढ़ हो गया।

तब कुम्भमुनि-रूपी चूड़ाला ने उन्हें ज्ञान का नवीन आलोक प्रदान किया। उन्होंने राजा को समझाया कि उनकी अहंता तथा ममता का पूरी तौर से नाश नहीं हुआ है; वे जगत् के मिथ्यात्व-बोध में भलीभाँति प्रतिष्ठित नहीं हो सके हैं; उनका त्याग-वैराग्य और आत्मज्ञान एवं आत्मानन्द उनके सहज जीवन में अनुप्रविष्ट नहीं हो सका है; इसी कारण उन्हें अपने राज्य में लौटने तथा अपनी पत्नी से मिलने में भय तथा अनिच्छा का बोध हो रहा है। अहंता एवं ममता से मुक्त हो जाने पर निर्जन अरण्य तथा कोलाहलमय राज्य के बीच कोई भेदबुद्धि नहीं रह जाता, कर्म तथा अकर्म के बीच कोई पार्थक्य नहीं रह जाता, भोग और त्याग के बीच कोई विषमता नहीं रह जाती। जब जगत् के मिथ्यात्व का दृढ़ निश्चय हो जाय, तो फिर इस मिथ्या जगत् से भागकर शान्ति पाने की आकांक्षा या आवश्यकता का बोध ही क्यों होगा? जब तक मिथ्या ही सत्य प्रतीत हो रहा है, तभी तक वह सत्य को आवृत्त करके विक्षेप, अशान्ति, शोक, ताप आदि की सृष्टि कर सकता है, तभी तक इन्द्रियों तथा मन को उससे निकालकर सत्य के अनुसन्धान में लगाना आवश्यक होता है। मिथ्या जगत् तो सत्य-स्वरूप आत्मा का ही विवर्त है, आत्मा का ही वैचित्र्यपूर्ण विलास है। चित्त से मिथ्या नाम-रूपों के प्रति राग-द्वेष के तिरोहित हो जाने पर, हृदय में त्याग-वैराग्य के सुप्रतिष्ठित हो जाने पर, सत्य-स्वरूप आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान द्वारा चित्त के आलोकित हो जाने पर यह प्रतीयमान मिथ्या जगत् आत्मानन्द में किसी भी बाधा की सृष्टि नहीं कर सकता; बल्कि उल्टे मिथ्या का यह वैचित्र्य – एक सत्य-स्वरूप अखण्ड आनन्द का ही विविध रूपों में, विविध भावों में, विविध रसों में आस्वादन कराता है। जब तक जगद्-वैचित्र्य के सम्पर्क में आकर चित्त में भय-आशंका-अरुचि आदि उत्पन्न होते हैं, तब तक यह समझना होगा कि अभी हृदय अहंता-ममता से मुक्त नहीं हुआ है, चित्त में त्याग-वैराग्य की प्रतिष्ठा नहीं हुई है, जगत् के प्रति मिथ्यात्व-बोध सुदृढ़ नहीं हुआ है और जीवन में आत्मज्ञान तथा आत्मानन्द सहज नहीं हुए हैं। जगत् के कोलाहल के बीच ही ज्ञान की और चरित्र की परीक्षा होती है। कर्मजीवन के बीच भी यदि आत्मज्ञान, आत्मानन्द, परम विश्रान्ति अबाध रहे, तभी समझना चाहिये कि योग-साधना में पूर्ण सिद्धि मिल चुकी है।

कुम्भमुनि-रूपी चूड़ाला के नवीन उपदेश के आलोक में शिखिध्वज ने नये प्रकार से विचार तथा ध्यान का अभ्यास किया और अहंता-ममता से पूर्ण मुक्ति प्राप्त की और आत्मज्ञान तथा आत्मानन्द के अनुभव से कृतार्थ हुए। अब उन्हें जगत् के किसी भी बन्धन या क्लेश का भय नहीं रहा। जाग्रत और समाधि – दोनों ही अवस्थाएँ उनके लिये समान हो गयीं। अब वे कर्म-भोगमय गृहस्थ-जीवन के बीच समाधि के आत्मानन्द की धारा को अबाध बनाये रखने का कौशल सीख चुके थे। अब उन्हें राजधानी लौटकर राजकार्य सम्पादन में कोई आपत्ति नहीं रही। **(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)**

नमकहलाल राजपूत

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी जपानन्दजी कुछ संस्मरणों तथा तीन पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी', 'आत्माराम की आत्मकथा' का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। उन्होंने काठियावाड़ की कुछ कथाओं का भी बँगला में पुनर्लेखन किया था, जो हमें श्री ध्रुव राय से प्राप्त हुई हैं। उन्हीं रोचक तथा प्रेरणादायी कथाओं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

जिस समय अभयसिंह के पिता की मृत्यु हुई, उस समय वह दस-बारह साल का रहा होगा। उसके पिता राजा के सिपाही थे। वेतन के स्थान पर राजा ने उसके लिये अन्न का परिमाण निर्धारित कर दिया था। उसके मरते ही सरकार की ओर से अनाज मिलना बन्द हो गया।

अभय की माँ उसको साथ लेकर राजा के दरबार में हाजिर हुई। बोली – "अन्नदाता, यदि आप दया करके इसकी आजीविका की व्यवस्था करें, अन्यथा दूसरा कौन करेगा! मेरा अभय, समय पर, और कुछ नहीं, तो आपको एक लोटा पानी ही पिला सकेगा।"

राजा को दया आयी। उन्होंने उसे थोड़ी-सी जमीन दे दी।

धीरे-धीरे अभयसिंह बड़ा हो गया था। वह स्वयं ही खेती-बारी करता और जब भी राजा के यहाँ कोई काम पड़ता, तो दौड़कर चला जाता और जी-जान से परिश्रम करता।

अभयसिंह को सहसा एक दिन समाचार मिला कि किसी काठिया राजा ने आक्रमण किया है। वृद्ध राजा अपने मुट्ठी भर सैनिकों को लेकर उसका सामना करने गये हैं। पल भर विलम्ब किये बिना ही उसने अपनी तलवार उठाई और घोड़े पर सवार होकर रणभूमि की ओर रवाना हो गया।

बोला – "अन्नदाता, आज्ञा दीजिये – इन लोगों को थोड़ा दिखा दूँ कि राजपूत मारना भी जानता है और मरना भी!"

राजा ने कहा – "तेरी माँ को देखनेवाला दूसरा कोई नहीं है। तू गाँव में जा; जरूरत हुई तो बुलवा लूँगा!"

बोला – "अन्नदाता, मैं अपनी माँ का आशीर्वाद लेकर ही निकला हूँ; अब आपका आदेश चाहता हूँ!"

अभयसिंह ने भयंकर युद्ध किया। उसने ऐसी मारकाट मचायी कि काठिया लोगों को लग रहा था कि साक्षात् यमराज ही वहाँ उपस्थित हुए हैं। इसके बाद वह घायल हो कर धराशायी हो गया। ठीक उसके पास ही राजा भी मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए थे। अभय के पास पीने का पानी था। उसे अपनी गर्भधारिणी माता की बात याद हो आयी – "और कुछ नहीं, तो समय पर एक लोटा पानी दे सकेगा!" घिसटते-घिसटते वह बड़े कष्टपूर्वक राजा के पास गया और पानी का लोटा सामने रखकर बोला, "बापू, यह जल ग्रहण कीजिये, ताकि मेरी माँ का वचन भी पूरा हो जाय!"

❑❑❑

पिछले पृष्ठ का शेषांश

सद्गुरु-रूपिणी चूड़ाला देवी ने अपने पतिदेव के तत्त्वज्ञान की अद्भुत परीक्षा ली। पति को राजधानी में ले जाने के पूर्व वे अपने योगबल से एक साथ ही कुम्भ मुनि तथा चूड़ाला का रूप धारण करके उनके सम्मुख आयीं और शिखिध्वज के निकट ही आपस में प्रेमविलास का अभिनय करने लगीं। इस पर भी शिखिध्वज के चित्त में कोई विकार उत्पन्न नहीं हुआ। अपनी पत्नी को पर-पुरुष के साथ विहार करते देखकर भी वे विक्षुब्ध नहीं हुए। अपने गुरुदेव को परनारी से मिलते देखकर भी उनकी श्रद्धा में कोई कमी नहीं आयी। वे चरम परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके थे। वे अहंता-ममता के भाव से मुक्त, अपने सम-दर्शन में सुप्रतिष्ठित, उनका चित्त सभी अवस्थाओं में शान्त था और उनका आत्मज्ञान तथा आत्मानन्द अबाध रहा। वे विश्वजित् के रूप में विराज करने लगे – **इहैव तैर्जितो सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः**।

कुम्भमुनि और चूड़ाला – दोनों राजा शिखिध्वज के पास आये। दोनों के शरीर मिलकर एक हो गये। महायोगिनी चूड़ाला एक पतिव्रता नारी के समान पुन: अपने पति से मिलीं और अपने पूर्ण ज्ञान में प्रतिष्ठित पति को साथ लेकर राजधानी लौट आयीं। राजकार्य पूर्ववत् ही चलने लगा। योगसिद्ध पत्नी की कृपा से शिखिध्वज **निर्द्वन्द्वो नित्य-सत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्** होकर सभी प्रकार के जागतिक कर्तव्यों का निर्वाह करने लगे।

(उद्बोधन, वैशाख १३६१ बंगाब्द, श्रीमाँ शताब्दी अंक से)

अभ्यास का महत्त्व

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

जीवन के हर क्षेत्र में अभ्यास की बड़ी महिमा है। किसी भी क्रिया को इस प्रकार दुहराना कि वह सहज हो जाय, अभ्यास कहलाता है। अभ्यास की प्रारम्भिक प्रक्रिया उबाऊ और कष्टदायक होती है। पर जब अभ्यास सध जाता है, तब वही प्रक्रिया हमारे लिए सहज होकर सुखकर हो जाती है। हम तैरने का अभ्यास करते हैं। पहले-पहल अंग-अंग टूटने लगते हैं, देह थकावट से चूर हो जाती है। पर जब तैरने का अभ्यास सध जाता है, तब हम अपनी थकावट दूर करने तैरने जाते हैं। जाकर पानी पर चित लेट जाते हैं। हाथ-पैर तनिक नहीं हिलते। पर इस क्रियाहीन दिखनेवाली स्थिति को साधने के लिए हमें कितना अभ्यास करना पड़ता है, यह तो वही जानता है, जो इस प्रक्रिया से गुजरा है।

हमें रविशंकर का सितारवादन कितना चमत्कृत करता है। परन्तु उनके उस मुग्धकारी सितारवादन के पीछे अभ्यास निहित है। जब हम टाइप करना सीखते हैं, तो धीरे-धीरे अपनी उँगली देख-देखकर की-बोर्ड पर रखते हैं। हमारा ध्यान तनिक इधर-उधर बँटा नहीं कि भूल हो जाती है। परन्तु जब टाइपिंग का अभ्यास सध जाता है, तब हम दूसरों से बात करते हुए भी टाइपिंग कर लेते हैं, हमें की-बोर्ड की ओर देखने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। मानो हमारे मन का एक भाग अभ्यास के फलस्वरूप टाइपिंग की क्रिया से सदैव जुड़ा रहता है।

जैसे भौतिक क्षेत्र में मनुष्य की सफलता अभ्यास पर निर्भर रहती है, वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में भी सफलता का रहस्य अभ्यास ही है। हमारा मन बड़ा चंचल है। उसकी चंचलता को समझाने के लिए स्वामी विवेकानन्द एक बन्दर की उपमा देते हैं। बन्दर स्वभाव से चंचल होता है। कल्पना करें कि इसे शराब पिला दी गयी है। वह कितना चंचल न हो जायगा ! अब और मान लें कि उस मस्त बन्दर को बिच्छू ने डंक मार दिया है। फलस्वरूप हम बन्दर की जितनी चंचलता की कल्पना करेंगे, हमारा मन वैसा ही चंचल है। प्रश्न उठता है कि क्या ऐसे चंचल मन को अपने काबू में किया जा सकता है? इस पर प्रतिप्रश्न किया जा सकता है कि मन को काबू में लाने की जरूरत ही क्या है? इसका उत्तर यह है कि चंचल मन वाला व्यक्ति न दुनिया में सुख से रह सकता है और न अध्यात्म के क्षेत्र में ही प्रगति कर सकता है। चंचल मन वाले विद्यार्थी परीक्षा में सन्तोषजनक रूप से उत्तीर्ण नहीं हो पाते। चंचल मन वाला व्यवसायी अपने व्यवसाय में मन नहीं लगा पाता। इसलिए उसे अभीष्ट सफलता भी नहीं मिल पाती। चंचल मन के द्वारा जब यह लोक ही नहीं सधता, तब उससे अध्यात्म सधने की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। अत: चंचल मन को निग्रह में लाना सभी दृष्टि से आवश्यक है। पर प्रश्न यह है कि क्या ऐसा चंचल मन काबू में लाया जा सकता है?

यही प्रश्न अर्जुन ने श्रीकृष्ण से किया था। पूछा था –

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्-दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।

– कृष्ण, मन तो अत्यन्त चंचल है, उसका स्वभाव ही मथने का है, वह बड़ा बली और जिद्दी है। उसको काबू में लाना मैं वैसा ही कठिन मानता हूँ, जैसे वायु को वश में करना।

उत्तर में श्रीकृष्ण अर्जुन की बात नहीं काटते, उसका समर्थन करते हैं, पर साथ ही वे यह भी स्वीकार नहीं करते कि मन को वश में नहीं लाया जा सकता। वे कहते हैं –

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।

– हे महाबाहो, नि:सन्देह मन अत्यन्त चंचल और दुर्जय है, पर हे कुन्तिपुत्र, ऐसे मन को भी अभ्यास और वैराग्य के द्वारा काबू में लाया जा सकता है।

यहाँ पर भगवान् कृष्ण ने 'अभ्यास' शब्द का उपयोग किया है। अभ्यास के द्वारा दुर्जय मन को भी वश में किया जा सकता है। जो बात पहले सागर को पार करने के समान दुष्कर मालूम पड़ती है, अभ्यास के द्वारा वही गोष्पद को लाँघने के समान सहज हो जाती है।

बचपन में एक कहानी पढ़ी थी। एक ग्वाला रोज गाय के बछड़े को हाथों में लेकर उठा लेता। बछड़ा बढ़ता गया, पर ग्वाला रोज ही उसे उठा लेता। एक दिन वह बछड़ा भारी-भरकम साँड़ बन गया, पर ग्वाला उसे भी उठाकर सबको चमत्कृत कर देता। उसका राज यह था कि वह उसे उसके बचपन से ही रोज उठता आ रहा था।

यही अभ्यास का चमत्कार है। कहा भी तो है - रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान - बाल्टी की रस्सी रोज कुएँ के पत्थर पर चल-चलकर उसे काट देती है। यह अभ्यास की क्षमता है।

केशव चन्द्र सेन

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और उनके अनुरागी बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी पहली मुलाकातों का वर्णन किया है। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

दक्षिणेश्वर के परमहंस – जैसा कि श्रीरामकृष्ण उन दिनों जाने जाते थे – एक ओर आध्यात्मिक जगत् की विस्तृत दूरियों को नापनेवाली अपनी साधनाओं के लक्ष्य को पाने में व्यस्त थे, तो दूसरी ओर वे सदैव उन प्रसिद्ध व्यक्तियों से भेंट करने के लिए उत्सुक रहा करते थे, जो किसी-न-किसी क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट रहे हों। यह एक प्रकार से उनकी धुन-सी बन गयी थी।

उन्हें सूचना मिली कि ब्राह्मसमाज के नेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर (१८१७-१९०५) एवं उनके युवा सहायक केशव चन्द्र सेन के समान अन्य ब्राह्मभक्त भी खूब निष्ठापूर्वक ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। उन्होंने अपने शिष्य मथुरानाथ विश्वास पर एक दिन वहाँ ले चलने के लिए जिद की। यह सम्भवत: जनवरी १८६४ के जोड़ासाँको-स्थित ब्राह्मसमाज के उत्सव के समय की बात है। इस विषय में चर्चा करते हुए बाद में वे कहते – "कई वर्ष पूर्व एक बुधवार को मैं जोड़ासाँको में ब्राह्मसमाज की धर्मसभा में गया था। तब मैंने युवा केशव को मंच पर बैठकर सभा का संचालन करते देखा था और सैकड़ों अनुयायी उसके दोनों ओर बैठे हुए थे। ध्यान से देखने पर मुझे दिखा कि केशव का मन ब्रह्म में डूबा है, चारा जल में डूब गया है। उसी दिन से केशव के प्रति मेरे मन में लगाव उत्पन्न हो गया। सभा में अन्य लोग ऐसे प्रतीत हुए मानो हथियार लेकर बैठे हों। उन लोगों के चेहरे देख मुझे लगा कि अभी उन लोगों के मन में संसार के प्रति आसक्ति, अहंकार तथा कामनाएँ अत्यधिक प्रबल हैं।"[१]

केशव की उम्र उस समय केवल छब्बीस वर्ष की थी और तब भी वे अखण्ड ब्राह्मसमाज में थे।

राममोहन राय (१७७२-१८३३) के नेतृत्व में १८२८ में शुरू किये गये इस ब्राह्मसमाज ने, अपने द्वितीय उत्तराधिकारी देवेन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व सँभालने के साथ ही अपने आन्दोलन में गति पा ली थी।[२] १८५७ ई. में केशव चन्द्र सेन के इसमें चुपचाप प्रविष्ट हो जाने से इस आन्दोलन के लिए एक नये युग का सूत्रपात हुआ, जिसमें बहुत बड़ी सम्भावनाओं के साथ विभाजन का भी खतरा विद्यमान था। प्रारम्भ में उसके सदस्यों के बीच सैद्धान्तिक समरसता का प्रभाव इतना स्पष्ट नहीं था, तो भी था अवश्य। १३ अप्रैल १८६२ को केशव के औपचारिक रूप से ब्राह्मसमाज के आचार्य-पद पर आसीन होते ही ये आन्तरिक मतभेद उभरकर सतह पर आ गये। जहाँ केशव के आकर्षक व्यक्तित्व से बहुत से श्रद्धालु, विशेषकर उनके समवयस्क, उनकी ओर खिंच गये, वहीं उनके नये आचारों से 'समाज' के परम्परागत दृष्टिकोण पर बारम्बार आघात होने लगे। इससे दोनों में गहरा मतभेद पैदा हो गया और समय पाकर खाई बढ़ती गयी। देवेन्द्रनाथ परम्परावादी लोगों का 'आदि ब्राह्मसमाज' के नाम से नेतृत्व करते रहे और केशव तथा उनके युवा सहयोगियों ने अलग होकर नवम्बर १८६६ में 'भारतीय ब्राह्मसमाज' की स्थापना की।

पिता प्यारीचरण सेन और माता सारदा सुन्दरी देवी के पुत्र रूप में १८३८ ई. में जन्मे केशव बहुत बचपन में ही अपने पिता को खो बैठे थे। उनके परिवार के लोग भगवान कृष्ण के निष्ठावान भक्त थे। उनकी शिक्षा प्रेसिडेंसी कालेज में हुई थी। उनकी यह बौद्धिक शिक्षा उनकी आस्था के लिए काल बन गयी। ईसा ने उनके हृदय को प्रभावित कर लिया था और यह सम्बन्ध उन्हें ईसाई धर्म की ओर झुकाता रहा। ईसा के अघोषित प्रवक्ता के रूप में उन्होंने ब्राह्म-आन्दोलन में नये तत्त्वों का समावेश कर दिया, जिससे छोटे-बड़े सबमें काफी भ्रम उत्पन्न हो गया और वही समाज को विभाजन के कगार पर ले गया। " 'आदि ब्राह्मसमाज' ने पुरातन हिन्दू धर्म की परम्पराओं के प्रति आस्था रखते हुए अपने को हिन्दुओं के सुधार की संस्था माना, जबकि 'भारतीय ब्राह्मसमाज' ने अपने को उदार और व्यापक विचारों का समर्थक घोषित किया तथा वह स्वयं को ईसा एवं ईसाइयत के साथ विशेष रूप से जोड़ने की चेष्टा करने लगा।"[३] १८७० में केशव इंग्लैंड गये और वहाँ उन्होंने अपने वक्तृत्व तथा आध्यात्मिक उत्साह से लोगों को प्रभावित किया। वहाँ से लौटकर उन्होंने सामाजिक सुधार शुरू किया। भारत के विभिन्न हिस्सों में ब्राह्मसमाज की शाखाएँ खोली गयीं। १८७२ में 'भारत-आश्रम' नाम से एक

१. 'प्रबुद्ध भारत', फरवरी १९३६, पृ. ९० पर छपा गिरीश चन्द्र सेन का लेख 'श्रीरामकृष्ण परमहंस'। श्रीरामकृष्ण का स्वयं का कथन भी इसी से मिलता-जुलता है। ('श्रीरामकृष्ण-वचनामृत', नागपुर, भाग २, सं. १९९९, पृ. ८९३-९४)

२. ब्राह्मसमाज के महान् नेताओं के विषय में संक्षिप्त तथा सारगर्भित जानकारी के लिए द्रष्टव्य – रोमाँ रोलाँ लिखित 'रामकृष्ण परमहंस' (लोकभारती प्रकाशन) का 'ऐक्य निर्माता' अध्याय पढ़े।

३. शिवनाथ शास्त्री, 'द ब्राह्मसमाज' (संक्षिप्त), साधारण ब्राह्मसमाज, १९५८, पृ. ३४

अनोखी संस्था स्थापित की गई; जिसमें केशव, उनके मिशनरी सहायक और अनेक ब्राह्मभक्त अपने परिवार के साथ रहते थे। केशव समाज को अध्यात्म और नैतिकता के उच्च स्तरों की ओर उठाना चाहते थे। वे प्रयास कर रहे थे कि सभी सांसारिक सम्बन्ध धार्मिक बन्धुत्व में बदल जायँ। यद्यपि यह एक सुन्दर परिकल्पना थी, पर शीघ्र ही संस्था में आन्तरिक मतभेद उभर आये और केशव इस घटनाक्रम से व्यथित होकर कुछ समय के लिए कलकत्ते से कुछ मील दूर बेलघरिया ग्राम के जयगोपाल सेन के उद्यान-भवन में विश्राम के लिए चले गये।

१८७६ ई. से 'भारतीय ब्राह्मसमाज' भी एक बार फिर दो दलों में विभाजित हो गया। एक का नेतृत्व केशव और उनके साथियों के हाथ में था तथा दूसरे में अपेक्षाकृत कम उम्र के लोग थे, जो चर्च-व्यवस्था के समान संवैधानिक नियमों के पालन करने के पक्षधर थे। इस दूसरे वर्ग ने मई १८७८ में 'साधारण ब्राह्मसमाज' का गठन किया, जबकि पहला वर्ग जनवरी १८८० में 'नवविधान' के रूप में सामने आया।

केशव की असंगता तथा आत्मत्याग ही उनकी प्रतिभा का मूल आधार था। वे स्वयं इसका पालन करते और अन्य लोगों से भी ऐसी ही अपेक्षा रखते। इस प्रकार उद्यान-भवन में केशव अपने अन्तरंग साथियों के साथ भजन, शास्त्र-अध्ययन, जप-ध्यान एवं गूढ़ विषयों पर चर्चा करते हुए अपने दिन बिता रहे थे। वृक्ष के नीचे अपना भोजन बनाकर, खुली जगह में बैठकर भोजन करते हुए तथा कठोर नियमों का पालन करते हुए वे आत्मसंयम और वैराग्य की प्राप्ति हेतु साधना कर रहे थे।

जहाँ एक ओर ब्राह्म-आन्दोलन समाज-सुधार प्रारम्भ करके भारत की तत्कालीन राजधानी कलकत्ता के लोगों में धार्मिक उत्साह जगा रहा था, वहीं दूसरी ओर दक्षिणेश्वर के परमहंस ने चुपचाप एक ऐसे ज्योति-स्तम्भ का निर्माण किया था, जो चहुँ ओर जाति-सम्प्रदाय, आयु-लिंग आदि भेदों से ऊपर उठकर आध्यात्मिक शक्ति और विश्वास की किरणें बिखेर रहा था।

करीब १८७५ ई. में श्रीरामकृष्ण के भीतर केशव चन्द्र सेन से मिलने की इच्छा अत्यन्त तीव्र हो उठी। केशव उस काल के सबसे प्रसिद्ध धार्मिक समाज-सुधारक बन चुके थे। श्रीरामकृष्ण तो सदा जगन्माता के आदेश पर निर्भर रहते थे। एक दिन भावसमाधि में माँ से उन्हें केशव से मिलने का आदेश मिला। "उन्होंने जगन्माता के मुख से सुना कि केशव माँ के कार्य में सहायक होंगे।"[४] जब वे उस विचार पर चिन्तन कर रहे थे, तभी उन्हें एक दर्शन मिला, जिसका बाद में वर्णन करते हुए उन्होंने कहा था – "केशव से भेंट होने के पहले ही मैंने उसे देखा था! समाधि-अवस्था में मैंने केशव और उसके दल को देखा। कमरे में मेरे सामने ठसाठस भरे हुए लोग बैठे थे। मैंने केशव को देखा, उन लोगों में मोर की तरह अपने पंख फैलाये बैठा हुआ था। पंख अर्थात् दल-बल। केशव के सिर में, देखा – एक लाल मणि थी। वह रजोगुण का लक्षण है। वह अपने चेलों से कह रहा था, 'ये (श्रीरामकृष्ण) क्या कह रहे हैं, तुम लोग सुनो।' मैंने माँ से कहा, 'माँ, इन लोगों का अँग्रेजी मत है, इनसे क्या कहना?' फिर माँ ने समझाया, 'कलिकाल में ऐसा ही होता है।' तब यहाँ से (मेरे पास से) वे लोग हरिनाम तथा माता का नाम ले गये।"[५]

वह दर्शन होने के बाद श्रीरामकृष्ण ने अपने एक भक्त नारायण शास्त्री को केशव के पास भेजा था। उस घटना के विषय में श्रीरामकृष्ण ने कहा था – "केशव को देखने से पहले मैंने नारायण शास्त्री से कहा, तुम एक बार जाकर उसे देख आओ और मुझे बताओ कि वे कैसे आदमी हैं। देख आने के बाद वह बोला, 'वह जप करके सिद्ध हो गया है।' नारायण ज्योतिष जानता था। उसने कहा, 'केशव सेन भाग्य का बड़ा जबरदस्त है।'... तब मैं हृदय को साथ लेकर बेलघरिया के बगीचे में केशव से मिला।"[६]

१४ मार्च १८७५[७] की सुबह श्रीरामकृष्ण अपने सेवक तथा भानजे हृदयराम मुखर्जी के साथ केशव के कोलूटोला वाले मकान[८] पर गये, जहाँ उन्हें पता चला कि केशव उस समय बेलघरिया के उद्यान-भवन में हैं।[९] अत: वे दक्षिणेश्वर वापस लौट आये और दूसरे दिन सुबह फिर हृदयराम के साथ एक पुरानी बग्घी[१०] में बेलघरिया के लिए रवाना हुए। गाड़ी में बैठने के पूर्व उन्हें भावसमाधि लग गयी थी। वे बुदबुदाते हुए कह रहे थे, "माँ, तुम चलोगी? तुम केशव को देखने चलोगी?" यही प्रश्न उन्होंने कई बार दुहराया और इनके बाद उत्तर दिया, "हाँ, जरूर।" उनका यह भाव गाड़ी में बैठ जाने

---

४. चिरंजीव शर्मा (त्रैलोक्यनाथ सान्याल के नाम से भी परिचित) लिखित 'केशव-चरित' (बँगला), तृतीय संस्करण, १८९७, पृ. २४९

५. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, भाग २, सं. १९९९, पृ. ९९३

६. वही, भाग १, सं. १९९९, पृ. ५६७

७. उपाध्याय, गौर गोविन्द राय : 'आचार्य केशवचन्द्र' (बँगला), पृ. १०४१। 'श्रीरामकृष्ण परमहंस देवेर जीवन वृत्तान्त' (बँगला), श्रीरामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता, सप्तम संस्करण, पृ. ६० में रामचन्द्र दत्त का यह कथन एवं 'धर्मतत्त्व' में एक प्रसंग में यह उल्लेख कि भेंट १८७२ में हुई थी, स्वीकार नहीं किया जा सकता। वर्ष १८७५ का उल्लेख करने वाले अन्य सन्दर्भ इस प्रकार हैं : 'द लाइफ ऑफ श्रीरामकृष्ण', अद्वैत आश्रम, १९६४, पृ. २६८; 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग', प्रथम खण्ड, २००८, पृ. ३४४; 'प्रबुद्ध भारत', फरवरी १९३६ के कई लेख।

८. अक्तूबर १८७७ तक केशव इस पतेवाले मकान से लिली काटेज, ७२ अपर सर्कुलर रोड, कलकत्तावाले मकान में रहने नहीं गये थे।

९. 'प्रबुद्ध भारत', फरवरी १९३६, पृ. ९३ में सेवक प्रियनाथ मलिक का लेख 'श्रीरामकृष्ण परमहंस' : "१८७५ में वे (श्रीरामकृष्ण) केशव के कोलूटोलावाले मकान में गये थे; वहाँ उन्हें न पाकर बेलघरिया के उस उद्यान में गये, जहाँ केशव अपने सहयोगियों के साथ 'साधना' में लगे हुए थे। केशव उस उद्यान को तपोवन कहते थे।"

के बाद भी बना रहा। अन्त में सुबह के लगभग ९ बजे वे जयगोपाल सेन के उद्यान-भवन में पहुँचे।[११]

हृदयराम उतरकर उद्यान-भवन के भीतर गये और केशव से कहा, "मेरे मामा भजन और भगवच्चर्चा के प्रेमी हैं। यह सब सुनकर वे प्राय: समाधिमग्न हो जाते हैं। उन्होंने सुना है कि आप ईश्वर के बहुत बड़े भक्त हैं, इसलिए वे आपके पास भगवान और उनकी महिमा सुनने आये हैं। आपकी अनुमति हो, तो मैं उन्हें भीतर ले आऊँ।" केशव ने अनुमति दे दी।

हृदयराम ने सहारा देकर श्रीरामकृष्ण को गाड़ी से उतारा और बगीचे के भीतर ले गये। पहले वे अन्दर बने तालाब के पास गये और उन्होंने दक्षिण-पश्चिमी घाट पर अपने हाथ-पैर धोये। सुबह की उपासना समाप्त हो गयी थी और केशव अपने अनुयाइयों के साथ पूर्व की ओर के बड़े घाट की सीढ़ियों पर बैठे थे। वे लोग नहाने की तैयारी कर रहे थे। अब उनका ध्यान श्रीरामकृष्ण की ओर आकृष्ट हुआ, जो करीब चालीस वर्ष के थे, प्राय: क्षीणकाय थे; उनके चेहरे पर एक छोटी-सी अस्त-व्यस्त दाढ़ी थी और केश बिखरे हुए थे। उनकी देह पर मात्र लाल किनार की धोती थी, जिसका एक छोर समेटा हुआ बायें कन्धे पर झूल रहा था। शरीर पर ढाँकने के लिए न तो कुर्ता था, न चादर। वे नंगे पैर थे। हृदयराम उनकी तुलना में सर्वथा विपरीत एक बलिष्ठ शरीर और ऊँचे कदवाले आदमी थे।

जैसा कि श्रीरामकृष्ण का स्वभाव था, वहाँ पहुँचकर उन्होंने झुककर केशव तथा उपस्थित जनों को नम्रतापूर्वक नमस्कार किया। ऐसा लगता है कि न तो केशव ने और न ही उनके साथियों में से किसी ने नमस्कार का उत्तर दिया।[१२] तथापि उन लोगों ने आगन्तुकों को बैठने के लिए आसन दिये। स्पष्ट ही केशव और उनके साथियों ने श्रीरामकृष्ण को सन्देह की दृष्टि से ही देखा और उन्हें एक साधारण व्यक्ति ही समझा।[१३]

श्रीरामकृष्ण ग्रामीण बँगला में थोड़ा तुतलाते हुए-से बोलते, जो बहुत मधुर लगती थी। उन्होंने केशव से पूछा, "बाबू, क्या यह सच है कि तुम्हें ईश्वर के दर्शन हुए हैं? वे कैसे हैं यह जानने की मेरी बड़ी इच्छा है। इसीलिये मैं तुम्हें देखने आया हूँ।" केशव का यदि कुछ उत्तर भी रहा हो, तो वह अब ज्ञात नहीं है। कुछ बातों के बाद आगन्तुक मधुर कण्ठ से रामप्रसाद का एक भजन गा उठे – (भावार्थ) "कौन जानता काली कैसी ! षड्दर्शन भी उनका दर्शन नहीं पाते। शास्त्र कहते हैं कि काली आत्माराम की आत्मा है। वह इच्छामयी है, अपनी इच्छा के अनुसार घट-घट में विराज रही है।..."

श्रोतागण गीत का भाव ठीक ठीक समझ पाते उससे पहले ही गायक दिव्य भाव में इतने लीन हो गये कि बाह्य जगत् के प्रति उनकी समूची चेतना का लोप हो गया। उन्हें समाधि लग गयी। उनका पूरा शरीर पहले ढीला हो फिर अकड़-सा गया। उनके दोनों हाथ उनकी गोद में पड़े रहे और उँगलियाँ आपस में बँध गयीं। "उनके नेत्रों से आनन्दाश्रु बह चले। यदा-कदा उनके होठों पर मधुर मुसकान खिल उठती।"[१४] वे निश्चल बैठे थे तथा उनकी दृष्टि स्थिर थी। बाहर के लिए वे इतने बेसुध थे कि लग रहा था मानो उनकी साँस ही नहीं चल रही है। शरीर में रोमांच हो आया था। वैसे देखनेवालों के लिए वह एक असाधारण घटना थी, पर उन लोगों ने उस भावावस्था को मात्र ढोंग या मूर्छा या कोई चमत्कार ही समझा था। श्रीरामकृष्ण की ऐसी अवस्था देख हृदयराम उनके कानों में बार-बार प्रणव का उच्चारण करने लगे तथा अन्य उपस्थित जनों से भी उन्होंने उसे

---

१०. सम्भव है कि श्रीरामकृष्ण विश्वनाथ उपाध्याय की गाड़ी में बैठकर न गये हों, जैसा कि सारदानन्दजी ने 'लीलाप्रसंग' में लिखा है। यहाँ यह बात भी विचारणीय है कि हिन्दू धर्म के कट्टर अनुयायी विश्वनाथ यूरोपीय विचारधारा से प्रभावित केशव के कड़े आलोचक थे, अत: ऐसा नहीं लगता कि श्रीरामकृष्ण ने इस यात्रा के लिए उनकी गाड़ी का उपयोग किया होगा। उस समय श्रीरामकृष्ण को देखनेवाले ब्राह्मसमाज के लोगों ने लिखा है कि उस दिन वे सबसे कम भाड़ेवाली बग्घी में आये थे। ('प्रबुद्ध भारत', फरवरी १९३६, पृ. ८९)

११. गुरुदास बर्मन : 'श्रीश्रीरामकृष्ण चरित' (बँगला, प्रथम संस्करण, पृ. १४८-४९) में आने का समय ३ बजे अपराह्न बताते हैं, पर 'लीलाप्रसंग' में सारदानन्दजी '१ बजे' लिखते हैं, जबकि दोनों को हृदयराम से ही जानकारी मिली है। अक्षयकुमार सेन कहते हैं '११ बजे'; और ब्राह्मनेता गिरीशचन्द्र सेन ('प्रबुद्ध भारत', फरवरी १९३६, पृ. ८९), प्रतापचन्द्र मजूमदार, उपाध्याय गौर गोविन्दराय आदि वहाँ उपस्थित लोगों के अनुसार 'प्रात: ९ बजे' या उससे पूर्व। उस समय की (स्नान आदि) पारिस्थितिक साक्ष्य से भी यही समीचीन लगता है।

१२. महेन्द्रनाथ दत्त अपने 'श्रीरामकृष्ण अनुध्यान' (बँगला) में बतलाते हैं कि उस समय कलकत्ता में काफी झुककर नमस्कार करने की अधिक प्रथा नहीं थी। श्रीरामकृष्ण स्वयं अपने एक अनुभव का वर्णन देते हैं, "कोलूटोला के मकान पर भेंट हुई। हृदय साथ था। केशव जिस कमरे में था, उसी में हमें बैठाया। मेज पर शायद कुछ लिख रहा था, बहुत देर बाद कलम छोड़कर कुर्सी से नीचे उतरकर बैठा। हमें नमस्कार आदि कुछ नहीं किया।... वह यहाँ कभी आता था।... वह जब भी आता, मैं स्वयं उसे नमस्कार करता था; तब उसने धीरे-धीरे भूमिष्ठ होकर नमस्कार करना सीखा।" ('वचनामृत', भाग १, पृ. १२१)।

१३. प्रतापचन्द्र मजूमदार : 'दि लाइफ एंड टीचिंग्स ऑफ केशव चन्द्र सेन', १८८७, पृ. ३५७ : "एक दिन सुबह... एक अस्त-व्यस्त-सा युवक आया, जिसके शरीर पर पर्याप्त वस्त्र भी न थे तथा जो व्यवहार में अति सामान्य से भी कम था।... देखने में वह इतना निश्चल और सीधा-सादा लगा तथा अपने परिचय में भी उसने इतना कम कहा कि पहले हम लोगों ने उसकी ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया। पर शीघ्र ही वह अर्ध-बाह्यावस्था में बातें करने लगा तथा बीच-बीच में उसका बाह्य ज्ञान पूर्णत: लुप्त हो जाता। तथापि उसकी बातों की गहराई एवं विलक्षणता को देखकर हम लोग शीघ्र ही समझ गये कि वह साधारण मनुष्य नहीं है।" तुलनीय – स्वामी सारदानन्द कृत 'लीलाप्रसंग'।

१४. उपाध्याय गौर गोविन्द राय, वही, पृ. १०४३

दुहराने का निवेदन किया। उनके अनुरोध पर वे लोग भी वैसा करने लगे। इससे एक गहरा आध्यात्मिक वातावरण बन गया, जिससे श्रीरामकृष्ण के मन को बाह्य जगत् में उतारने में सहायता मिली। एक अलौकिक मुसकान के साथ श्रीरामकृष्ण ने, पहले तो अर्ध-भावावस्था में ही बोलना शुरू किया। उनकी भाषा घरेलू और प्रभावशाली थी, उनकी बातों में दैनिक जीवन में घटनेवाली घटनाओं और लोकोक्तियों का सुन्दर पुट था। उनकी बातों ने सबका ध्यान अपनी ओर खींच लिया और उनकी कल्पना-शक्ति को जाग्रत कर दिया। श्रोताओं को विश्वास हो गया कि 'श्रीरामकृष्ण साधारण मनुष्य नहीं, अपितु एक दैवी पुरुष हैं।'[१५] उनके शब्दों ने तथा कहने की शैली ने श्रोताओं को विभोर कर दिया।[१६]

इसके बाद तो श्रीरामकृष्ण ने ही अधिकांश बातें की और अन्य सब उन्हें श्रद्धापूर्वक सुनते रहे। "दिव्य भाव में अभी भी डूबे हुए वे कहने लगे – "एक कहानी सुनो। एक बार एक आदमी जंगल में गया और वहाँ एक वृक्ष पर उसने एक छोटा-सा प्राणी देखा। लौटकर उसने एक दूसरे आदमी को बताया कि उसने अमुक झाड़ पर एक लाल रंग का सुन्दर प्राणी देखा है। दूसरे आदमी ने उत्तर दिया, 'जब मैं जंगल गया था, तब मैंने भी उस प्राणी को देखा था। पर उसे तुम लाल क्यों कहते हो? वह तो हरा है।' एक अन्य व्यक्ति जो वहाँ उपस्थित था, ने दोनों की बात काटते हुए कहा कि नहीं वह तो पीला है। तभी अन्य लोग भी इकट्ठे हो गये और बतलाने लगे कि वह भूरा है, नारंगी है, नीला है आदि आदि। अन्त में विवाद बढ़ते बढ़ते झगड़े की नौबत आ गयी, तब फैसला करने के लिए वे सब उस वृक्ष के पास गये। उन्होंने वहाँ उसके नीचे एक आदमी को बैठे देखा। पूछने पर उसने उत्तर दिया, 'हाँ, मैं इस वृक्ष के नीचे ही रहता हूँ और उस प्राणी को अच्छी तरह जानता हूँ। तुम लोगों ने जो जो वर्णन किया, वह सब सही है। कभी वह लाल दिखता है, तो कभी पीला, कभी नीला, तो कभी नारंगी, या कभी भूरा या अन्य कुछ। वह है गिरगिट। और कभी तो उसका कोई रंग ही नहीं होता। अभी उसका रंग है, फिर थोड़ी देर में कुछ नहीं है।' इसी प्रकार जो भगवान का सतत चिन्तन करते हैं, वे जान लेते हैं कि उनका वास्तविक स्वरूप कैसा है, एकमात्र वे ही जानते हैं कि भगवान अपने भक्तों को अलग-अलग रूप में और अलग-अलग प्रकार से दर्शन देते हैं। भगवान सगुण भी है; और फिर निर्गुण भी हैं।... बाकी लोग वृथा तर्क करके दुख पाते रहते हैं।"[१७]

श्रीरामकृष्ण प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय को आध्यात्मिक चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के मार्ग का सोपान मानते थे। वे आगे कहने लगे – "भगवत्-दर्शन के बाद ही कोई उनके बारे में ठीक-ठीक बता सकता है। जिसने भगवान को देखा है, वह जानता है कि वे सगुण भी हैं और फिर निर्गुण भी। फिर वे ऐसे भी हैं, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

"एक बार कुछ अन्धे एक पशु देखने गये। उन्होंने सुना कि उसे हाथी कहते हैं। उन लोगों से पूछा गया कि हाथी कैसा है? अन्धे लोग उसे टटोलकर देखने लगे। उनमें से एक ने कहा कि हाथी खम्भे के समान है, उसने उसके पैर को छुआ था। दूसरे ने कहा कि हाथी सूप के समान है, उसने हाथी के कान का स्पर्श किया था। इसी प्रकार अन्य अन्धे लोग हाथी की पूँछ या पेट को छूकर हाथी को अलग-अलग रूप से बताने लगे। इसी प्रकार, जिस व्यक्ति ने ईश्वर के एक ही रूप का दर्शन किया है, वह ईश्वर को उसी रूप में सीमित करके देखता है। उसके मत में ईश्वर अन्य प्रकार के हो ही नहीं सकते।[१८]

बाह्य-उपदेशकों का मन वक्ता के स्मित मुखमण्डल पर निबद्ध हो गया था, वे अपने भीतर ही भीतर सोच रहे थे कि ईश्वर या उनकी अनन्त विभूतियों को नापने की उन लोगों की चेष्टा कैसी वृथा है। श्रीरामकृष्ण आगे कहने लगे – "एक बार एक चींटी चीनी के ढेर के पास पहुँची। एक दाना उसने मुख में रखा, वही उसका पेट भरने को काफी था। दूसरा दाना निगलने की जगह ही न थी। वैसे ही ईश्वर के विषय में कौन सब कुछ जान सकता है? फिर उनकी कृपा बिना उनको कोई समझ भी नहीं सकता।"[१९]

जैसे जैसे समय बीतता गया, ब्राह्मभक्तगण उत्कण्ठापूर्वक श्रीरामकृष्ण के वचनामृत का पान करने लगे। यद्यपि सभी लोग उनके उपदेशों का पूरा मर्म हृदयंगम नहीं कर पा रहे थे, तो भी वे लोग मुग्ध हो उनकी ओर एकटक देखते हुए उनको सुन रहे थे।[२०] केशव की ओर दृष्टि जाने पर श्रीरामकृष्ण ने उनसे पूछा, "क्या तुमने मिट्टी का सीताफल देखा है?"

"हाँ, महाशय।"

"जैसे मिट्टी का सीताफल देखने से असली सीताफल की याद आ जाती है, वैसे ही काली की मूर्ति उसके भक्तों के चित्त

१५. गिरीशचन्द्र सेन, पूर्वोद्धृत; **१६.** सेन, वही, पृ. ९१ : "केशव ... इस निरक्षर परमहंस के पास एक शिष्य की भाँति, एक छोटे भाई के समान, विनम्रतापूर्वक बैठकर उनके उपदेशों को श्रद्धापूर्वक सुनते हुए हृदयंगम करते। उनसे वे कभी तर्क नहीं करते।" प्रियनाथ मल्लिक, वही पृ. ९४ : "ऐसी बैठकों में प्राय: बोलने का एकाधिकार श्रीरामकृष्ण को ही रहता। केशव चन्द्र मुश्किल से कभी कुछ कहते। वे केवल अपनी मुसकान से और सिर हिलाकर अपनी प्रशंसा व्यक्त करते।"

१७. बर्मन, (वही, पृष्ठ १५०) श्रीरामकृष्ण द्वारा इस विषय में कही गयी कहानी का सार बतलाते हैं। वैसे ऊपर उद्धृत शब्द 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' (भाग २, पृ. १०३१) से लिये गये हैं। पाद टिप्पणी क्रमांक १८ और २४ के विषय में भी ऐसा ही है, क्योंकि श्रीरामकृष्ण यह और अन्य कथाएँ विभिन्न समय में विभिन्न लोगों से चर्चा में बताया करते थे। **१८.** बर्मन : पृ. १५०-१, 'वचनामृत', प्रथम भाग, च.सं., पृ.२२७। **१९.** बर्मन, वही, पृ. १५१

में चिन्मयी सच्चिदानन्द-स्वरूपिणी जगदम्बा की स्मृति जगा देती है।''[२१] अब वे केशव का ध्यान आध्यात्मिक जीवन की ओर खींचते हुए कहने लगे, ''साधना के प्रारम्भ में कमर कसकर अभ्यास करने की जरूरत होती है। बाद में भले ही ये अभ्यास धीरे-धीरे कम होते जाते हैं। कच्ची पूड़ी गरम घी में डालने पर पहले जोरों से छन्न की आवाज करती है, फिर धीरे-धीरे उसके पक जाने पर वह आवाज बन्द हो जाती है। वैसे ही ज्ञान के पक्के होने पर बाह्य आडम्बर और चिह्न दूर हो जाते हैं। ये सब तो थोथे ज्ञान के साथ ही जुड़े होते हैं।...[२२]

''साधक दो प्रकार के होते हैं। एक का स्वभाव बन्दर के बच्चे के समान, तो दूसरे का बिल्ली के बच्चे के समान होता है। बन्दर का बच्चा बड़े परिश्रमपूर्वक किसी प्रकार अपनी माँ से चिपटा रहता है। वैसे ही कुछ साधक सोचते हैं कि भगवान के साक्षात्कार के लिए बँधी संख्या में उनके नाम का जप करना चाहिए, बँधी अवधि तक उनका ध्यान करना चाहिए और नियत मात्रा में तप करना चाहिए। इस कोटि का साधक ईश्वर को पकड़ने के लिए स्वयं परिश्रम करता है। पर बिल्ली का बच्चा स्वयं अपनी माँ से नहीं चिपट सकता। वह तो जमीन पर पड़ा बस 'म्याऊँ-म्याऊँ' करता है। वह सब कुछ अपनी माँ पर छोड़ देता है। उसकी माँ कभी उसे गद्दे पर तो कभी छत पर लकड़ियों के ढेर के पीछे रख देती है। वह अपने मुँह में अपने बच्चे को दबाकर इधर-उधर जाती है। बच्चा नहीं जानता कि माँ से कैसे चिपटे। ऐसे ही, कुछ साधक जप की मात्रा या ध्यान की अवधि निर्धारित करके साधना नहीं कर पाते। वे बस आकुल हृदय से ईश्वर को पुकारते हैं। ईश्वर उनकी पुकार सुनते हैं और वे अपने को उन लोगों से दूर नहीं रख पाते। वे उन लोगों के समक्ष अपने को प्रकट करते हैं।''[२३]

मुग्ध श्रोताओं को यह भी पता न चला कि दोपहर के भोजन का समय काफी पहले बीत चुका है। अनन्त करुणा और अगाध ज्ञान से भरे सन्त के उपदेशों से श्रोताओं को ऐसा लग रहा था मानो वे उनके अपने हैं, अति निकट के सम्बन्धी हैं। उन लोगों की इस भावना का समादर करते हुए श्रीरामकृष्ण ने विनोद किया, ''यदि गाय के झुण्ड में कोई दूसरा जानवर घुस जाता है, तो वे सब मिल उसे सींगों से मारकर खदेड़ देती हैं। पर यदि कोई दूसरी गाय आ जाती है, तो अपने ही बीच का जान वे उसे बड़े स्नेह से अपनाती हैं और उसकी देह चाटकर स्वागत करती हैं। आज हम लोगों का मिलन भी मानो इसी प्रकार का मिलन है।'' यह सुनकर सभी लोग ठहाका मारकर हँस पड़े, पर सभी ने इस बात की सत्यता महसूस की।

श्रीरामकृष्ण केशव और उनके साथियों से विदा लेने को तैयार हुए। वे उठे और केशव की ओर संकेत कर कहने लगे, ''केवल ये ही ऐसे हैं, जिनकी पूँछ झड़ चुकी है।'' उपस्थित सभी जन जोरों से हँस पड़े, यद्यपि उनमें से कइयों ने इस कथन को असम्मानसूचक माना। पर केशव तुरन्त टोकते हुए बोले, ''हँसो मत। उनके कथन का अवश्य कोई गूढ़ मर्म होगा। हम उनसे पूछें।'' श्रीरामकृष्ण अपने कथन का मर्म स्पष्ट करते हुए बोले, ''जब तक मेंढक के बच्चे की पूँछ नहीं गिर जाती, तब तक उसे पानी में रहना पड़ता है; वह किनारे से चढ़कर सूखी जमीन में विचर नहीं सकता; ज्योंही उसकी पूँछ गिर जाती है, त्योंही वह फिर उछलकूदकर जमीन पर आ जाता है। तब वह पानी में भी रह सकता है और जमीन पर भी। इसी प्रकार जब तक व्यक्ति की अविद्या की पूँछ नहीं गिर जाती, तब तक वह संसाररूपी जल में ही पड़ा रहता है। अविद्या-रूपी पूँछ के गिर जाने पर – ज्ञान होने पर ही व्यक्ति मुक्त भाव से विचरण कर सकता है और इच्छा होने पर संसार में भी रह सकता है।''[२४]

''केशव, तुम्हारे मन की भी अब वैसी ही स्थिति है, वह संसार में भी रह सकता है तथा सच्चिदानन्द में भी रह सकता है!'[२५] श्रोतागण, जो इसे सहज भाव से ले रहे थे, इसकी गहराई को समझकर अवाक् रह गये और अपने नेता के विषय में इस रहस्योद्घाटन से गौरव का अनुभव करने लगे।

इस प्रकार करीब चार घण्टे प्रेरणादायी वार्तालाप के बाद श्रीरामकृष्ण केशव से विदा लेकर दक्षिणेश्वर लौटने के लिए गाड़ी में बैठे। वे अपने नवपरिचितों, विशेषकर केशव को, सन्त-हृदय से निकले मधुमय शब्दों पर विचार करते रहने के लिए छोड़ गये। श्रीरामकृष्ण में दैवी प्रेम और ज्ञान की ज्योति सदा ही प्रज्वलित रहती। इसीलिए वे सहज ही जिज्ञासु-हृदयों में भक्ति-विश्वास की ज्योति जला देते थे।

केशव शीघ्र ही समाचार-पत्रों में अपनी इस अद्भुत खोज के बारे में लिखने लगे।[२६] उन्होंने भी श्रीरामकृष्ण से आकर

२०. रोमाँ रोलाँ द्वारा लिखे 'रामकृष्ण परमहंस' के पृ. १८३ से मिलाएँ – ''सबसे बढ़कर दर्शकगण को प्रभावित करनेवाली वस्तु उनका जीवित विश्वास था।... जब वे भगवान की कथा कहते थे तो वे गोताखोर के सदृश, जो कि समुद्र में गोता लगाकर कुछ ही क्षणों में सामुद्रिक शैवाल की गन्ध तथा लवण के स्वाद के साथ ऊपर आ जाता है, भगवान के अन्दर डूब जाते थे। इस गन्ध और आस्वाद के अदम्य प्रलोभन की कौन उपेक्षा कर सकता है? पश्चिम की वैज्ञानिक बुद्धि निस्सन्देह इनका विश्लेषण कर सकती है। परन्तु इसके चाहे जो भी मूल उपादान हों, इसकी संश्लिष्ट सत्ता कभी सन्देह का विषय नहीं रही है। कट्टर-से-कट्टर सन्देहवादी भी, जब गोताखोर अपने समाधि-स्वप्न से वापस आ जाता है, तब उसे स्पर्श कर सकता है। और उसके नेत्रों में समुद्र-तलवर्ती शैवाल का प्रतिबिम्ब देख सकता है। केशव तथा उनके कुछ शिष्य इसे देखकर विमुग्ध हो गए थे।''

२१. बर्मन, वही, पृष्ठ १५१-२; **२२.** राय, वही, पृ. १०४३

२३. 'धर्मतत्त्व', १४ मई १८७५; 'वचनामृत', भाग १, पृ. ४१५;

२४. 'वचनामृत', भाग २, पृ. ७५८ (वार्तालाप के इस अंश को वहाँ उपस्थित कई लोगों ने लिपिबद्ध कर लिया था।)

२५. श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, प्रथम खंड, पृ. ४६२

मिलने में अधिक देरी नहीं की। इस प्रकार दो विपरीत प्रकार के मनों का मिलन हुआ – एक थे महान् बुद्धिवादी यूरोपीय भाव-धारा से प्रभावित केशव और दूसरे थे ईश्वरीय भाव में डूबे दक्षिणेश्वर के परमहंस। इससे उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक नव-जागरण को एक नयी दिशा मिली। उन दोनों का सम्बन्ध आन्तरिक, स्नेहपूर्ण एवं अटूट था। उनका एक-दूसरे के प्रति इतना गहरा लगाव हो गया कि वे बिना मिले एक-दो हफ्ते से अधिक रह नहीं पाते। कभी केशव दक्षिणेश्वर आते, तो कभी श्रीरामकृष्ण को कलकत्तेवाले अपने निवास-स्थान पर आमंत्रित करते; और जब कभी सुविधा होती, वे उन्हें अपनी धर्म-सभाओं में उपदेश देने के लिए कहते; वे श्रीरामकृष्ण को स्टीमर में बैठाकर गंगा में घुमाने ले जाते। अपने व्याख्यानों, पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं के लेखों में केशव प्राय: ही श्रीरामकृष्ण का उल्लेख करते; और इस प्रकार बंगाल तथा बाहर के मध्यमवर्गीय शिक्षित समुदाय से उन्होंने दक्षिणेश्वर के सन्त को परिचित कराया।[२७] दूसरी ओर केशव के प्रति श्रीरामकृष्ण का स्नेहभाव गहरा और संवेदनशील था। एक बार उन्होंने केशव से कहा था, "जब कभी तुम बीमार पड़ जाते हो, तो मुझे बड़ी घबराहट होती है। पहली बार भी जब तुम बीमार पड़े थे, तो रात के पिछले पहर मैं रोया करता था। कहता था, माँ, केशव को यदि कुछ हो गया, तो फिर किससे बातचीत करूँगा? तब कलकत्ता आने पर मैंने सिद्धेश्वरी को नारियल और चीनी चढ़ाई थी। माँ के पास मनौती मानी थी, जिससे बीमारी ठीक हो जाय।"[२८]

केशव ने कम-से-कम एक बार एक न्यायोचित घोषणा की थी, "यदि मैं पैगम्बर नहीं हूँ, तो मैं एक विशिष्ट व्यक्ति हूँ। मैं साधारण मनुष्यों जैसा नहीं हूँ और यह मैं सोच-समझकर कह रहा हूँ।"[२९] तथापि उनमें बहुत विनम्रता थी। श्रीरामकृष्ण का प्रभाव उनके हृदय की गहराई में पैठा था और उसने उनके मानसिक क्षितिज का विस्तार कर दिया था। श्रीरामकृष्ण का व्यक्तित्व ही ऐसा था कि उससे दूसरों की विचारधारा परिवर्तित, समृद्ध तथा आलोकित हो उठती थी। १८८० की जनवरी में कुछ लोगों ने औपचारिक रूप से केशव द्वारा घोषित 'नव-विधान' के बारे में इस धारणा का खण्डन किया है "इस मत के आविर्भाव को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार केशवचन्द्र ने श्रीरामकृष्ण की समस्त धर्ममत-विषयक चरम मीमांसा का अंशिक रूप में प्रचार किया था।"[३०] उन लोगों का तर्क है कि 'नवविधान' का बीज केशव के उन ग्रन्थों[३१] में पाया जा सकता है, जो श्रीरामकृष्ण से उनके मिलन के पहले के हैं। पर श्रीरामकृष्ण के सौम्य प्रभाव को और ब्राह्म लोगों के लिये उनकी प्रबल प्रेरणा को कौन अस्वीकार कर सकता है? श्रीरामकृष्ण को पूजने वाले केशव-जैसे निष्ठावान साधक तो इसे निश्चय ही अस्वीकार नहीं करेंगे। यद्यपि श्रीरामकृष्ण की प्रेरणा केशव तथा उनके कार्यों के भीतर अव्यक्त रूप से थी, परन्तु उनका परिणाम बड़ा गहरा था। केशव के दो कट्टर समर्थकों ने ठीक ही लिखा है, "परमहंस की सरलता, मधुर बालसुलभ भक्ति-विश्वास ने केशव के योग, वैराग्य, नीति, भक्ति और शुद्ध धार्मिक विचारों को प्रभावित किया था।"[३२]

"आचार्यदेव (केशव) ने उनसे सीखा था कि किस प्रकार ईश्वर को माता के रूप में देखते हुए एक सरल बालक के समान उनसे प्रार्थना करनी चाहिए और छोटे शिशु के समान उनके लिए आकुल होना चाहिए। भक्ति का पक्ष रहने पर भी ब्राह्मधर्म विश्वास और विचार का धर्म था। परमहंस के जीवन से प्रभावित होकर ही वह काफी अधिक मधुर बना था।"[३३]

यहाँ एक अन्य अधिकारी विद्वान् जे. एन. फर्कुहर को उद्धृत किया जा सकता है, जो केशवचन्द्र या परमहंसदेव – दोनों में से किसी से भी सम्बन्धित न थे। उन्होंने लिखा है –

"सच तो यह है कि वे (केशव) रामकृष्ण के सर्वधर्म-समन्वय-भाव की महत्ता से अभिभूत हो गये थे; और एक बार उस भाव को स्वीकार कर लेने के बाद उसमें विश्वास रखकर, उसके साथ-साथ वे अपने मस्तिष्क में, हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों, ईसाई धर्म के त्रिपुटी (पिता, पुत्र तथा पवित्रात्मा) के सिद्धान्त और अपनी स्वयं की पुरानी आस्थाओं को पकड़े रहने का प्रयास करने लगे।"[३४]

यद्यपि हम इन दो महानुभावों के आपसी प्रभाव को मापने में असमर्थ हैं, तथापि इन दो महान् विचारधाराओं के मिलन से मानवता को शान्ति तथा प्रगति की ओर ले जानेवाला जो मार्ग प्रशस्त हुआ, उसके महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता।

❑❑❑

२६. उदाहरणार्थ 'इंडियन मिरर' २८ मार्च १८७५ : "अधिक दिन नहीं हुए, जब हम एक (निष्ठावान् हिन्दू भक्त) से मिले थे, जिनकी गहराई, आत्मा में पैठ और सरलता ने हमें मुग्ध कर दिया। उनके द्वारा प्रयुक्त दृष्टान्त तथा उदाहरण जितने सटीक थे, उतने ही सुन्दर भी थे। उनके मन की विशेषता पण्डित दयानन्द से सर्वथा विपरीत है, ये नम्र, कोमल तथा ध्यानप्रधान हैं, जबकि दयानन्द दबंग, बलिष्ठ तथा शास्त्रार्थप्रिय हैं। हिन्दू धर्म में सौन्दर्य, सत्यता और अच्छाई की कितनी गहराई होगी, जो इनके जैसे लोगों को प्रेरणा देती है।"

२७. भूधर चटर्जी, 'वेदव्यास' के सम्पादक – "और तत्पश्चात् केशव बाबू ही उनके (श्रीरामकृष्ण) प्रचार-कार्य में प्रमुख सहयोगी बने और इस प्रकार क्रमश: उनके कार्यक्षेत्र में विस्तार साधित किया। (प्रबुद्ध भारत, १९३६, पृ. ९७); **२८.** 'वचनामृत', भाग १, पृ. ३५०

२९. शिवनाथ शास्त्री, 'हिस्ट्री ऑफ ब्राह्मसमाज', भाग २, पृ. १०३; **३०.** 'लीलाप्रसंग', प्रथम भाग, पृ. ३४८; **३१.** अन्यों के अलावा, उनका व्याख्यान 'बिहोल्ड दि लाइट आफ हेवन इन इंडिया', २३ जनवरी १८७५ (रोमाँ रोलाँ ने इसका सुन्दर विश्लेषण किया है; देखिए 'रामकृष्ण परमहंस', पृ. १६६-१९२); **३२.** शर्मा, वही, पृ. २४७; **३३.** सेन, वही, पृ. ९०; **३४.** जे. एन. फर्कुहर : माडर्न रेलिजियस मूवमेंट्स इन इंडिया, मैकमिलन, १९१५, पृ. ६४

स्वामी प्रेमानन्द के संग में (१६)

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

"जातिभेद के विषय में वे (श्रीरामकृष्ण) कहा करते थे, 'भक्तों की जाति ही अलग है। उनमें आपस में जाति-विचार की कोई आवश्यकता नहीं।' उच्च कुल में उत्पन्न दुश्चरित्र व्यक्ति के हाथ का वे कुछ भी खा नहीं पाते थे। यहाँ तक कि वैसा कोई व्यक्ति आसन बिछा दे, तो वे बैठ नहीं पाते थे। फिर वे एक व्यक्ति के जूठे पत्तल पर हाथ लगाने जा रहे थे। तभी वह चिल्ला उठा, 'महाराज, क्या करते हैं! यह क्या करते हैं! मैंने अखाद्य-भक्षण किया है और आप मेरा पत्तल स्पर्श कर रहे हैं।' इस पर ठाकुर ने उत्तर दिया था, 'इसमें कोई दोष नहीं है; तुम्हारा मन अच्छा है।'

"बीच बीच में वे कहते – 'जो हविष्यान्न खाता है, परन्तु भगवद्भक्ति से रहित है और भीतर विषयों से परिपूर्ण है, उसका हविष्यान्न गो-शूकर के मांस-तुल्य हो जाता है; और जो भक्तिमान श्रद्धासम्पन्न है, वह यदि अखाद्य भी खाये, तो उसका वह अखाद्य अखाद्य नहीं, बल्कि हविष्यान्न है।'

"ठाकुर करुणाघन-मूर्ति थे। उनकी दया की कोई सीमा न थी। काशी जाते समय वे देवघर में उतरे थे। वहाँ के गरीबों का दुख-दारिद्र्य देखकर उन्होंने मथुर बाबू से कहा, 'इन्हें अच्छी तरह खिलाओ-पिलाओ, नहीं तो रहने दो तुम्हारी काशी-यात्रा, मैं तो इन्हें छोड़कर नहीं जाऊँगा!'

"लांछित होकर भी उन्होंने दया की है। असह्य रोग-पीड़ा के बीच भी वे दया करने के लिए व्याकुल रहा करते थे। कहते, 'कहाँ, आज तो कोई आया नहीं!' और रास्ते की ओर देखते। हाजरा ने कहा था, 'नरेन, नरेन करके क्यों पागल होते हो? उन लोगों के लिए व्याकुल होने की तुम्हें क्या जरूरत है? तुम्हारा स्थान तो गोलोक में, कैलास में है; तुम्हें इन लोगों के लिए चिन्ता करने की क्या आवश्यकता?' उन्होंने भी ऐसा ही सोचा। वे पंचवटी में गये। वहीं उन्हें सभी प्रकार के दर्शन हुआ करते थे। माँ ने उनसे कहा, 'तू तो बड़ा बेवकूफ है। तू क्या अपने सुखभोग के लिए आया है? छी!' तब ठाकुर ने कहा, 'जीव-कल्याण के लिए यदि इससे भी लाखगुना कष्ट सहन करना पड़े, तो करूँगा।' छह महीने भी नहीं बीते और जिस-तिस का पाप लेकर उनके गले में घाव हो गया। जोर से बोल तक नहीं पाते थे। पेट में भूख लगती थी, परन्तु खा नहीं पाते थे। उठकर बैठने से आराम नहीं मिलता था। आठों पहर शरीर में दाह होता था। परन्तु अहैतुक कृपासिन्धु कृपा-वितरण करने में कभी आगा-पीछा नहीं करते थे। इसी प्रकार डेढ़ वर्ष बीते। जीव के लिए क्रूशविद्ध होना और किसे कहते हैं?

"ध्यान-जप के नाम पर चुपचाप बैठे रहना, यह तमोगुण का लक्षण है। ठाकुर स्वयं भी कितने कार्य किया करते थे! हमने उन्हें माली का भी कार्य करते देखा है। खुद ही कमरे में झाड़ू लगाते थे। फिर बेतरतीब कार्य करना वे सहन नहीं कर पाते थे। प्रत्येक छोटे-से-छोटा कार्य वे स्वयं ही व्यवस्थित रूप से करते थे और हमें भी वैसा ही सिखाते थे। जहाँ की चीज है, ठीक वहीं न रखने पर कितना डाँटते थे! किस प्रकार स्वच्छतापूर्वक सुघड़ रूप से पान सजाना चाहिए – इतना तक उन्होंने मुझे सिखाया था। परन्तु उनका मन सदा ही अन्तर्मुखी रहा करता था। किसी के कुछ खरीदने जाकर ठगाकर आ जाने पर वे उपहास करते हुए कहते, 'तुम लोगों को साधु होने के लिए कहा है, मूर्ख होने के लिए तो कहा नहीं।' कहते – **योगः कर्मसु कौशलम्।**"

श्रीरामकृष्ण और समन्वय

प्रथम परिच्छेद (मुक्ति की चाभी भगवान के हाथ में)

अगले सोमवार, ६ मार्च, १९१६ ई. को श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि-पूजा और रविवार, १२ मार्च को सार्वजनिक उत्सव है। पूजनीय बाबूराम महाराज मठ में घूम-फिरकर उसका प्रबन्ध देख रहे हैं।

आज वे मठ के दक्षिण-पूर्व के (ज्ञान महाराज के) कमरे में कुर्सी पर बैठे उपस्थित साधुओं के साथ बातें कर रहे हैं।

बाबूराम महाराज – "ईश्वर-दर्शन, आत्म-दर्शन से अनन्त ज्ञान की पुस्तक खुल जायगी, क्योंकि जो ज्ञानस्वरूप हैं, वे तुम्हारे ही भीतर विद्यमान हैं। महापुरुषों द्वारा लिखित करोड़ों पुस्तकें पढ़ लेने पर भी भगवान की ठीक ठीक धारणा नहीं होगी। महापुरुषों ने जिनको जाना था, उन्हें तुम लोगों को भी जानना होगा। तभी सभी रहस्यों के द्वार खुल जायेंगे।

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।

– जो कुछ जानने योग्य है, उसे मैं बताता हूँ। इसे जानकर व्यक्ति उस अनादि परब्रह्म रूपी अमृत को पा लेता है, जिसे सत् भी नहीं कहा जा सकता और न असत्।। (गीता, १३/१२)

"चाभी उनके हाथ में है। उनकी कृपा की भिक्षा माँगनी होगी, आत्मा का वरण करना होगा। ईश्वर किसी नियम के

अधीन नहीं हैं। सौ बार नाक दबाया, या फिर लाख बार जप किया और वे उड़कर चले आयेंगे ! हृदय चाहिए, व्याकुलता और आन्तरिकता चाहिए। उनके दर्शन के अभाव में जब प्राण निकलने लगेंगे, तभी वे दर्शन देंगे। यही उनका सार-उपदेश है। सूर्य को अस्त होते देखकर ठाकुर कहते, 'मेरा समय कैसे चला गया, मैं तो जैसा था वैसा ही रह गया।' जिह्वा खींचकर बाहर निकाल लेते और धरती पर मुख रगड़ते। आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ, इसलिए उन्हें यह जीवन व्यर्थ प्रतीत होने लगता। ईश्वर के अदर्शन से वे काल-सर्प के दंशन की पीड़ा का भोग करते। उसी प्रकार का तीव्र वैराग्य जब तक नहीं आ जाता, तब तक इस संसार-चक्र में पिसते रहना होगा। मिथ्या सुखरूप माया-मरीचिका की खोज में हताश होना होगा। सोचो तो, वैराग्य का क्या ही प्रभाव था – उनके सिर के बड़े-बड़े बालों के बीच सरसों का पौधा उग आया और उनका उस ओर भी ध्यान नहीं था !

''जब जो भी अवतार आये हैं, उनमें से प्रत्येक एक-एक भाव के आदर्श बने हैं; वैसे यह भी नहीं कि उनमें अन्य कोई भाव न रहा हो; सभी भाव थे, परन्तु वे एक-एक भाव स्पष्ट रूप से दिखा गये हैं। जैसे चैतन्य महाप्रभु प्रेम की घनीभूत अवस्था को दिखा गये। उनमें मानो जड़ जैसा कुछ भी नहीं था, जैसे जल जमकर बरफ हो जाता है, वैसे ही प्रेम जमकर श्रीचैतन्य हुए हैं। वैसे ही, मूर्तिमान ज्ञान मानो शंकराचार्य हैं, मूर्तिमन्त त्याग मानो बुद्धदेव हैं, मूर्तिमन्त कर्म मानो श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण ने समस्त धर्म, दर्शन, प्रथा और मतों का समन्वय किया। उन्होंने दिखाया कि कर्म, योग, ज्ञान तथा भक्ति एक ही महासाधना के एक-एक अंग हैं। उसी को प्रकट करने के लिए उन्होंने निष्काम कर्म के द्वारा अपना जीवन गठित किया। निष्काम कर्म से चित्तशुद्धि होती है और चित्तशुद्धि से वैराग्य आता है। वैराग्य के बाद है त्याग। इस त्याग को ही ले आये बुद्धदेव। अपने लिए कुछ भी नहीं चाहिए, मुक्ति भी नहीं – सब कुछ जीवों के लिए। वे इस कारण रोये थे कि जीवों के लिए मुक्ति का पथ खोज नहीं सका ! त्याग के बाद ज्ञान आता है। ज्ञान को ले आये श्री शंकर। बालक होकर भी पूर्ण ज्ञानी थे। गुरु पूछते हैं – 'तुम कौन हो, कहाँ से आये हो, कहाँ जाओगे?' और बालक शिष्य उत्तर देते हैं –

मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहं
न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे ।
न च व्योमभूमिर्न तेजो न वायु-
श्चिदानन्दरूपं शिवोऽहं शिवोऽहम् ।।

''इस ज्ञान के बाद ही प्रेम है। यही प्रेम बाँटने प्रेममय चैतन्य महाप्रभु आये। परन्तु भारतवासियों को लगा कि इनमें से सभी एक-दूसरे के विरोधी हैं। सर्व-धर्म-समन्वयकारी श्रीरामकृष्ण के आगमन से यह विरोध दूर हो गया। अखण्ड भारत की युग-युगान्तर से चलनेवाली यह कठोर साधना है। इस अविराम साधना-प्रवाह की परिसमाप्ति अन्ततः रामकृष्ण-रूप समन्वय-समुद्र में हुई –

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।। (शिवम.)

''ठाकुर ने सभी तरह की साधनाएँ की थीं। सभी मतों के द्वारा वे ईश्वर को पाकर कृतार्थ हुए थे। सर्वभूतों में भगवान को देखकर उनके लिए घृण्य-अघृण्य कुछ भी नहीं रह गया था। प्रति क्षण वे प्रेम में डूबकर मतवाले बने रहते थे। दल आदि बनाने का भाव उनमें बिल्कुल भी न था। जो आत्मज्ञानी है, जो प्रेमिक-चूड़ामणि है, जिन्होंने सर्व धर्मों की गाँठ का भेदन किया है, उनके लिए बाड़ और चहारदीवारी का क्या मतलब? इन सबकी सृष्टि जानते हो कब होती है – जब हृदय भय, दुर्बलता और ईर्ष्या से परिपूर्ण रहता है। हमारे भीतर भी जब दल आदि बनाने का भाव घुसेगा, तब समझ लेना कि संघ के पतन में अब अधिक विलम्ब नहीं है। दल आदि बनाने के चक्कर में ही भारत मरा है। बँधे हुए तालाब का पानी ही खराब होता है, परन्तु नदी कभी कलुषित नहीं होती। सावधान ! तुम्हारे भीतर कट्टरता का भाव कभी नहीं आना चाहिए। 'हम लोग रामकृष्ण दल के लोग हैं, रामकृष्ण के बिना जीव की कोई गति नहीं है, इसलिए तुम सभी लोग रामकृष्ण को भजो, रामकृष्ण सबसे बड़े अवतार हैं' – यह सब कहकर कभी किसी के भावों पर आघात न दिया जाय।

श्रीरामकृष्ण में अहंकार का भाव बिल्कुल भी नहीं था। परन्तु शरीर-धारण के लिए माँ ने उनमें केवल विद्या का 'मैं' रख दिया था। मूर्तिमन्त पूर्ण निरभिमानिता के अवतार को हमने अपने नेत्रों से देखा है। सुनो, जगद्गुरु श्रीरामकृष्ण ने कंगालों के जूठे पत्तल अपने सिर पर उठाकर फेंके थे; अपने सिर के लम्बे-लम्बे बालों से पाखाना साफ किया था। आज से तुम लोगों का अहंकार दूर हुआ। ठाकुर की एक कहानी सुनो। गुरु ने शिष्य से कहा – 'तुमसे भी निकृष्ट जो कुछ हो, उसे ले आओ।' शिष्य को और कुछ नहीं मिला, तो उसने सोचा – विष्ठा ही मुझसे भी अधिक निकृष्ट है। परन्तु ज्योंही वह विष्ठा को उठाने के लिए आगे बढ़ा, त्योंही विष्ठा कह उठा, 'मुझे मत छूना, मत छूना; मनुष्यों के संसर्ग में आकर ही मेरी यह दुर्दशा हुई है। पहले मैं रसगुल्ला आदि मिष्ठान्न था, तब मेरा कितना सम्मान था, परन्तु तुम लोगों के संसर्ग में आकर अब मैं त्याज्य हो गया हूँ।' यह सुनकर उसका जो कुछ भी अहंकार था, वह भी चूर्ण हो गया। वह समझ गया कि उससे बढ़कर हीन वस्तु अन्य कुछ नहीं है।

❖ (क्रमशः) ❖

माँ की बातें

अनुकूल चन्द्र मंडल

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

हमारा ग्राम हुगली जिले के सन्तोषपुर में है। यह ग्राम जयरामबाटी-कामारपुकुर से अधिक दूर नहीं है। इस अंचल में यह ग्राम 'बेजो-सन्तोषपुर' के नाम से जाना जाता है। माँ के एक भाई (काली कुमार बाबू) जयरामबाटी के जगद्धात्री पूजा के उपलक्ष्य में बेजो-सन्तोषपुर का नाटक-दल किराये पर लेने आये थे। वे दो रात के लिए यात्रादल का बयाना दे गये। घटना सम्भवत: १८९४ या १८९५ ई. की है।

निर्दिष्ट दिन मैं नाटक-दल लेकर जा पहुँचा। पेट्रोमेक्स (गैसबत्ती) लगाकर नाटक शुरू हुआ। पहले दिन का विषय था – 'सीताहरण' और दूसरे दिन का 'चण्डीदास'। पहले दिन की घटना अविस्मरणीय है। इस नाटक में मेरी भूमिका रावण की थी। अभिनय के दौरान सीताजी को लक्ष्मणजी द्वारा बनाई सीमारेखा के बाहर आना होगा और रावण भिक्षुक-वेश में उनसे भिक्षा ग्रहण करने जायेगा, उसी के बाद ही सीताहरण की घटना होगी। नाटक में इस दृश्य के लिए कुछ अधिक समय रखा जाता था। एक-एक कर विभिन्न दृश्यों की घटनाएँ चलती रहीं। मेरी भूमिका आने पर मैं मंच पर भिक्षुक-वेश में हाजिर हुआ। चारो तरफ दृष्टि डालकर देखा – अपार भीड़ एकत्र थी। चारों ओर केवल दर्शकों का सिर-ही-सिर दिख रहा था। सभी लोगों में एक सात्विक उत्तेजना फैली हुई थी ! मेरी दृष्टि सहसा एक चेहरे की ओर गयी – लगा मानो वहाँ एक बड़ी गैसबत्ती जल रही है। चेहरे पर घूंघट पड़ा हुआ था, पर मुख-मण्डल मेरे समक्ष पूरी तौर से स्पष्ट था ! मैंने देखा कि वह मुख-मण्डल और चित्र में हम सीतादेवी का जो मुखमण्डल देखते हैं, दोनों मानो एक ही हैं। अभिनय के बीच ही देख लिया था कि वहाँ कोई रोशनी है या नहीं ! देखा – वहाँ कोई रोशनी नहीं है। चारों ओर घोर अन्धकार फैला है। अनेक महिलाओं के बीच उस विशेष मुख-मण्डल ने ही उस रात सहसा मेरी दृष्टि को आकृष्ट कर लिया था !

नाटक समाप्त हुआ। दर्शक चले गये। हम लोग भी खा-पीकर सोने गये। लेकिन मुझे नींद नहीं आई। रात में फिर बाहर आया। खुले आसमान की ओर देखता हुआ बारम्बार यही सोचने लगा – इतने दिनों के नाटकीय अनुभव में ऐसा तो पहले कभी नहीं देखा ! क्या यह मेरे मन का भ्रम है?

जानता था कि वे श्रीरामकृष्ण की धर्मपत्नी हैं; पर इतना ही कि श्रीरामकृष्ण के भक्तगण उनकी 'माँ' के रूप में भक्ति करते हैं। श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के बारे में भी तब विशेष कुछ नहीं जानता था। सुना था – कामारपुकुर के गदाधर चट्टोपाध्याय दक्षिणेश्वर के रानी रासमणि के काली-मन्दिर के पुरोहित हुए थे और थोड़े ही दिनों में उनका दिमाग बिगड़ जाने पर मन्दिर के खजांची तथा संचालकों ने उन्हें हटाकर अन्य पुरोहित की नियुक्त कर ली थी। तब श्रीरामकृष्ण ने काली साधना की थी। हमारे कुल-पुरोहित (नकुल घटक) का घर कामारपुकुर से पड़ोस में श्रीपुर ग्राम के घटक मुहल्ले में था। उन्हीं लोगों के मुख से श्रीरामकृष्ण के बारे में ये कटाक्षपूर्ण बातें सुनी थी। पर अभिनय के समय मैंने जो कुछ देखा, उसने मेरी पूर्व धारणा को आँधी के समान छिन्न-भिन्न कर दिया। मैं व्याकुलता से रात भर जागकर प्रतीक्षा करने लगा कि कब सुबह हो !

सुबह हुई। मुहल्ले के कुछ लोग नित्य-कर्म से निपटने के लिये इधर-उधर जा रहे थे। मैं सीधा माँ के घर की ओर दौड़ा। तब तक वहाँ कोई जगा नहीं था। पास ही एक ब्रह्मचारी को देखकर मैंने माँ के बारे में पूछा। वे बोले, "माँ उठ गयी हैं, तो भी इतनी सुबह भला कैसे दर्शन होगा?"

तो भी मैंने अनुरोध किया, "जरा देखिये न, मैं कल रात भर सो नहीं सका ! एक बार उनका दर्शन किये बिना मैं किसी भी प्रकार शान्त नहीं हो पा रहा हूँ।"

हम लोगों के इस बातचीत के दौरान ही सहसा देखा – माँ आ गयी हैं। माँ को देखते ही ब्रह्मचारी महाराज बोले, "माँ, ये अनुकूल मण्डल हैं। इन्हीं की नाटक-मण्डली है। ये कल सारी रात सो नहीं सके, इसीलिये सुबह होते-न-होते आपका दर्शन करने के लिये दौड़ आये हैं।"

सहसा मानो देवलोक का कण्ठस्वर सुना, 'आओ बेटा !"

ऐसा कण्ठस्वर मैंने जीवन में कभी नहीं सुना था। मेरा हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो गया। मैंने माँ को साष्टांग प्रणाम किया। माँ ने मेरे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। बोलीं – "बेटा, कल बहुत अच्छा नाटक हुआ। आज भी

तुम्हारा नाटक देखने जाऊँगी।'

मैं बोला, "हाँ माँ, अवश्य आइयेगा।"

उस दिन माँ ने कहा, "बेटा, ठाकुर का प्रसाद लेकर जाओ।" माँ के हाथ से ठाकुर का महाप्रसाद ग्रहण किया था। कैसा मधुर उसका स्वाद था! आज भी याद है।

इसके बाद से ही मेरा माँ के घर आना-जाना शुरू हुआ, जिसके फलस्वरूप माँ का सान्निध्य प्राप्त हुआ और दीक्षा भी मिली। इसके पूर्व मैंने अपने कुलगुरु से दीक्षा ली थी। फिर भी प्रबल व्याकुलता जगी और माँ के पास दीक्षा लेने पहुँचा। माँ ने कहा, 'बेटा, तुमने कुलगुरु से तो दीक्षा ली है। अब ठाकुर की बातें पढ़ो और चिन्तन करो, उसी से होगा।"

मैंने पुन: माँ से निवेदन किया, "माँ, आपसे दीक्षा पाये बिना मेरा मन स्थिर नहीं हो पा रहा है।"

तब माँ बोलीं, "अच्छा बेटा, तुम कुलगुरु से अनुमति ले आओ, वे यदि मना न करें, तो तुम्हारी दीक्षा होगी।"

मैं अविलम्ब अगले दिन ही अपने कुलगुरु से अनुमति ले आया और माँ से दीक्षा प्राप्त की।

इसके बाद मेरे जीवन में एक और विशेष घटना घटी। उन दिनों नाटकों में पोशाक आदि इतने उत्कृष्ट नहीं होते थे। ग्रामीण अंचलों में इतनी व्यवस्था भी न थी। मैंने 'घड़ासुर' नाटक का कार्य हाथ में लिया। पोशाक खरीदने कलकत्ता गया। उम्र कम थी। हम लोगों के गाँव का एक व्यक्ति कलकत्ते के एक नाटक-दल में काम करता था। पोशाक खरीदने जाकर कलकत्ते में उसी के घर ठहरा था। वहाँ जाकर देखा, उनके दल में भी 'घड़ासुर' नाटक का रिहर्सल चल रहा था। उनके दल में घड़ासुर का अभिनय करनेवाला ठीक अभिनय नहीं कर पा रहा था, यह देखकर मुझसे रहा नहीं गया। मैं बोल पड़ा – घड़ासुर का अभिनय ठीक नहीं हो रहा है। नाटक-पार्टी की गद्दी पर एक जन बैठे थे। वे बोल उठे, "अरे छोकरे, तूने कैसे समझा कि घड़ासुर का अभिनय ठीक नहीं हो रहा है? क्या तू सब कुछ जानता है?"

मैंने सिर नीचे करके कहा, "आप यदि अनुमति दें, तो मैं थोड़ा-सा घड़ासुर का अभिनय करके दिखा सकता हूँ।"

"दिखा तो जरा!" – वे सज्जन बोले।

मैंने घड़ासुर का पोशाक पहनकर अभिनय करके दिखाया। गद्दी पर बैठे व्यक्ति ने नीचे उतरकर मेरी पीठ ठोकते हुए कहा, "वाह, सुन्दर हुआ, लड़के, तेरा नाम क्या है?"

बोला, "अनुकूल चन्द्र मण्डल। घर आरामबाग के पास बेजो-सन्तोषपुर में है।" उन्होंने कहा, "मैनेजर बाबू, इसके शरीर से अब घड़ासुर का पोशाक उतारने की जरूरत नहीं। यह इसे दे दीजिये।" मैं बोला, "नहीं, नहीं।" उन्होंने कहा, "लड़के, तुम पहचानते नहीं। इसका नाम दानीबाबू* है। यह एक बार जो दे देता है, उसे वापस नहीं लेता।" इतना कहकर वे तेजी से चले गये।

उस दिन मेरा मन आनन्द से भरपूर हो उठा था। लगा – अभिनय जीवन का बहुत बड़ा पुरस्कार मिला। तब बार-बार लगने लगा – माँ के आशीर्वाद से ही यह सम्भव हुआ है।

घड़ासुर अभिनय का पोशाक खरीदकर गाँव लौटने पर सबसे पहले जयरामबाटी माँ का दर्शन करने गया। वहाँ माँ को सारी बातें बतायी। माँ ने खुश होकर आशीर्वाद दिया।

घड़ासुर नाटक में मुझे खूब सफलता मिली। जयरामबाटी में माँ को भी वह नाटक दिखाया था। जगद्धात्री पूजा में माँ के पास मेरा जाना प्रतिवर्ष प्राय: निश्चित रहता। वहाँ सीताहरण, चण्डीदास, प्रह्लाद, सप्तरथी, जगद्धात्री, लक्ष्मण-वर्जन, भक्त हरिदास, रामप्रसाद, जरासन्ध आदि अनेक नाटक किये हैं – कभी एक रात कभी दो रात। मेरा भतीजा शीतल मण्डल (नानू) मेरी टोली में बाँसुरी बजाता था। उस इलाके में उसकी बराबरी का बाँसुरी-वादक मिलना कठिन था। मृत्युंजय पाल कन्सर्ट बजाता। दक्ष लोग अभिनय करते। उनमें अविनाश मुखर्जी, देवेन बैनर्जी, रामशशी घोषाल, टूरो घोषाल, शची मण्डल, अश्विनी बैनर्जी, नगेन डोम, कानाई मल्लिक, जानकी मेद्दा, मानिक अधिकारी, मदन अधिकारी, कालीपद घोष आदि ने बाद में विशेष ख्याति अर्जित की थी। परवर्ती काल में उन लोगों को एक-एक दल के मुख्य कलाकार का पद मिला था। कहना न होगा कि ये सभी लोग माँ के भक्त थे और उनको माँ का आशीर्वाद प्राप्त था।

मातृदर्शन से मेरा अभिनय जगत् में आना सार्थक हुआ! हम लोगों की जमीन आदि काफी सम्पत्ति थी। मेरे पिता को वर्धमान के महाराजा से उचालन का एक बड़ा महल मिला था। वे वर्धमान राज के स्टेट में काम करते थे। हमारे यहाँ घोड़ा-पालकी आदि सब था। पर उससे मन सन्तुष्ट न था। मैंने अभिनय-जगत् की पुकार सुनी। इस कारण मुझे घरवालों से कम भर्त्सना नहीं सुननी पड़ी। उन दिनों मैं क्या जानता था कि इस पथ के द्वारा ही वैकुण्ठ की लक्ष्मी के पास पहुँच जाऊँगा! अभिनय के कारण ही मुझे माँ की प्राप्ति हुई थी। बड़े छुटपन में ही मैं अपनी गर्भधारिणी को खो बैठा था। वह दुख हृदय में ज्वलन्त था। जिस दिन माँ का दर्शन किया, उस दिन से मानो मुझे अपनी खोई हुई माँ पुन: मिल गयी।

माँ के पास आकर ही ठाकुर को पहचानना सीखा है, चिन्तन करना सीखा है। मातृछाया में जीवन धन्य हुआ। माँ ने दीक्षा देकर हृदय की तीव्र ज्वाला को शान्त किया। पत्नी-पुत्र सभी माँ का आशीर्वाद पाकर धन्य हुए हैं।

---

* दानी बाबू (सुरेन्द्रनाथ घोष) गिरीशचन्द्र घोष के पुत्र थे।

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)

विवेकानन्द और हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास

नरेन्द्र कोहली

महान् उपन्यासकार डॉ. नरेन्द्र कोहली के स्वामी विवेकानन्द के जीवन व चिन्तन पर आधारित अपनी सुप्रसिद्ध उपन्यास-शृंखला 'तोड़ो, कारा तोड़ो' के अब तक छह खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। इसके पूर्व आपने 'अपने सृजन से गुज़रते हुए' शीर्षक के साथ इस उपन्यास के लेखन की पृष्ठभूमि आदि पर चर्चा की थी, जिसे हमने 'विवेक-ज्योति' के २००५ ई. के मार्च अंक (पृ. १२९-१३४) में प्रकाशित किया था। अब प्रस्तुत है हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा में उपरोक्त उपन्यास के वैशिष्ट्य के विषय में लेखक के कुछ विचार – सं.)

इतिहास, ऐतिहासिक उपन्यास, ऐतिहासिक रोमांस और इतिहासाभासिक कृतियों का अन्तर हम समझते हैं; किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास का लक्ष्य क्या है? क्या उसका लक्ष्य उपन्यास से कुछ भिन्न हो सकता है? मैं समझता हूँ कि ऐतिहासिक उपन्यास की सृजन-प्रक्रिया भिन्न हो सकती है, भिन्न है भी; किन्तु उसका लक्ष्य न उपन्यास से भिन्न हो सकता है, न समग्र साहित्य से। सृजन-प्रक्रिया की भिन्नता के विषय में काव्य-शास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों को विचार करना चाहिए। आखिर क्या कारण था कि एक ही काल में, एक ही नगर में प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद अपने-अपने ढंग से अलग-अलग प्रकार की रचनाएँ रच रहे थे। नन्ददुलारे वाजपेयी आरोप लगा रहे थे कि आज जो कुछ आप समाचार-पत्र में पढ़ते हैं, कल उसे ही आप प्रेमचन्द की कहानियों में पढ़ सकते हैं। उधर प्रेमचन्द कह रहे थे कि जयशंकर प्रसाद गड़े मुर्दे उखाड़ रहे हैं।

वैसे तो किसी भी कालखण्ड विशेष का चित्रण ऐतिहासिक उपन्यास हो सकता है। रंगभूमि, बूँद और समुद्र, झूठा सच, और उत्तरकथा भी अपने युग का प्रामाणिक चित्रण करने के कारण, ऐतिहासिक उपन्यास हो सकते हैं; किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास होने के लिए एक अनिवार्य शर्त है – उसकी कथा का प्रख्यात होना, पाठकों का उससे पूर्वपरिचित होना।

दूसरी ओर हम अपनी पुराकथाओं को भी अपना प्राचीन इतिहास ही मानते हैं; किन्तु विद्वानों का एक वर्ग विदेशी सिद्धान्तों के अनुसार उसे मिथ अथवा मिथ्या ही मानना चाहता है। अत: वह उसे अपना इतिहास नहीं मानता। परिणामत: पौराणिक उपन्यासों की, ऐतिहासिक उपन्यासों से एक पृथक् श्रेणी बन गई है। पुराकथाओं को अपना इतिहास मानते हुए भी मैं चाहूँगा कि पौराणिक उपन्यासों का वर्ग ऐतिहासिक उपन्यासों से पृथक् ही रहे। कारण? पौराणिक उपन्यास केवल एक काल विशेष की घटनाएँ ही नहीं हैं, उनकी एक मूल्य-व्यवस्था है। वे उपनिषदों के मूल्यों को चरित्रों के माध्यम से, उपन्यास के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। जो उपन्यास पौराणिक काल, घटनाओं और चरित्रों पर आधृत तो हैं, किन्तु उस मूल्य-व्यवस्था का अनुमोदन नहीं करते, उन्हें पौराणिक उपन्यास कहना उचित नहीं है। उनमें से अधिकांश तो पौराणिक मूल्य व्यवस्था से अपरिचित अथवा उनके विरोधी लोगों द्वारा उन्हें ध्वस्त करने के लिए ही लिखे गए हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक उपन्यासों का क्षेत्र, बहुत विस्तृत है। परिणामत: विभिन्न मान्यताओं, रुचियों और विचार-धाराओं के अनुसार ऐतिहासिक उपन्यास और ऐतिहासिक उपन्यासकारों की गणना और आकलन होते रहते हैं।

प्रेमचन्दपूर्व और प्रेमचन्द की ऐतिहासिक और जीवनीपरक कथाएँ समाज को अपना गौरव और शौर्य स्मरण कराने में सफल हुई थीं। किन्तु उनका जीवन दीर्घकालीन नहीं हुआ। प्रेमचन्द रचित 'हरिसिंह नलवा' आज कितने लोगों को स्मरण है? उनका बस ऐतिहासिक महत्त्व ही रह गया है।

वृन्दावनलाल वर्मा के अपने वक्तव्यों के अनुसार उनके ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के कुछ सामान्य तथा कुछ विशेष कारण हैं। उन्होंने स्वीकार किया है कि सर वाल्टर स्कॉट के अंग्रेजी उपन्यास पढ़कर उनके मन में यह बात आई थी कि वे भारत के सम्मान की प्रतिष्ठा के लिए भारत के इतिहास के गौरवपूर्ण पृष्ठों को लेकर वैसे ही उपन्यास लिखेंगे। इस सामान्य कारण के साथ-साथ एक विशेष कारण देते हुए उन्होंने एक घटना की चर्चा की है। बुन्देलखण्ड में बसे एक पंजाबी परिवार के यहाँ एक विवाह के अवसर पर वर्माजी भी आमंत्रित थे। वहाँ उस पंजाबी परिवार के अनेक सगे-सम्बन्धी तथा परिचित भी उपस्थित थे। उन लोगों के मध्य होनेवाला वार्तालाप वर्माजी

पिछले पृष्ठ का शेषांश

ठाकुर और माँ के चिन्तन के सिवा मेरे जीवन में और कोई चिन्तन नहीं। कामारपुकुर जाकर मैं ठाकुर के कमरे के बरामदे में चल-फिर नहीं पाता! लगता मानो यहाँ ठाकुर के चरणचिह्न बिखरे हुए हैं। इसलिये वहाँ उन दोनों (ठाकुर के पैतृक) मकानों में किनारे-किनारे होकर मन्दिर में प्रणाम करने जाता। कामारपुकुर या जयरामबाटी से यदि कोई भिखारी भी हमारे गाँव आता, तो मैं उसे ठाकुर-माँ के गाँव का जानकर प्रणाम करता। कहता – आप भाग्यवान, पुण्यवान और कृतार्थ है। सैकड़ों युगों की तपस्या के फलस्वरूप ही आपने ऐसा भाग्य पाया है।'' माँ के श्रीचरणों में मेरी प्रार्थना है कि जैसे उन्होंने जयरामबाटी में आश्रय दिया हैं, वैसे ही परलोक में भी अपनी इस अधम सन्तान को आश्रय दें। ❑❑❑

ने भी सुना, जिसमें वे लोग बुन्देलखण्ड की निर्धनता, पिछड़ेपन तथा अशिक्षा के विषय में अपमानजनक ढंग से चर्चा कर रहे थे और उस क्षेत्र तथा वहाँ के निवासियों के प्रति अपनी घृणा व्यक्त कर रहे थे। वर्माजी ने स्वीकार किया है कि यह सब उन्हें अत्यन्त अपमानजनक लगा और उन्होंने वहीं संकल्प किया कि वे बुन्देलखण्ड के गौरव को प्रतिष्ठित करने के लिए उपन्यास लिखेंगे।

उन्होंने अपनी क्षमतानुसार अपने अभीप्सित काल के इतिहास की छानबीन की, अपने कथ्य के लिए प्रमाण जुटाए और थोड़े बहुत ऐतिहासिक रोमांस की सृष्टि भी की। यद्यपि उनका क्षेत्र केवल बुन्देलखण्ड तक ही सीमित है; किन्तु हम जानते हैं कि अपनी धरती से प्रेम करनेवाला लेखक अपनी संस्कृति से भी प्रेम करता है। वस्तुत: इतिहास और भूगोल ही तो संस्कृति का निर्माण करते हैं। उन्होंने 'विराटा की पद्मिनी' और 'गढ़-कुण्डार' जैसे ऐतिहासिक रोमांस और 'झाँसी की रानी' जैसा इतिहास-बोझिल उपन्यास भी लिखा; किन्तु 'मृगनयनी' जैसे सन्तुलित उपन्यास भी आए। उनका दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है। लेखक अपने समय से मुक्त नहीं होता। वृन्दावनलाल वर्मा के पास अपनी थीम है। वे अपनी लेखनी से एक युद्ध कर रहे हैं। उनका लेखन एक संघर्ष है। वे देश का सर्वश्रेष्ठ प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहे हैं; और अपने समाज का मनोबल भी बढ़ा रहे हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने, परिव्राजक के रूप में भारत का भ्रमण करते हुए, अलवर में अपने शिष्यों से कहा था कि आज तक भारत का इतिहास विदेशियों ने ही लिखा है। भारत का इतिहास अव्यवस्थित है। उसमें कालक्रम परिशुद्ध और यथार्थ नहीं है। अँग्रेजों तथा अन्य विदेशियों द्वारा लिखा गया इतिहास हमारे मनोबल को तोड़ने के लिए ही है। वह हमें दुर्बल ही बनाएगा। वे हमें हमारे दोष ही बताते हैं। जो विदेशी, हमारे तौर-तरीके, रीति-रिवाज, हमारे धर्म और दर्शन को बहुत कम समझते हैं, वे हमारा वास्तविक और पूर्वाग्रहरहित इतिहास कैसे लिख सकते हैं? इसीलिए उसमें अनेक भ्रान्तियाँ घर कर गई हैं। अब यह हमारे लिए है कि हम अपना स्वतंत्र मार्ग खोजें। अपने प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करें, शोध करें; और परिशुद्ध, यथार्थ, सहानुभूतिपूर्ण तथा आत्मा को उद्दीप्त कर देनेवाला इतिहास लिखें।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के भी अपने लेखन के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसे ही वक्तव्य मिल जाते हैं। 'सोमनाथ' के विषय में उन्होंने लिखा है कि कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के उपन्यास 'जय सोमनाथ' को पढ़कर उनके मन में आकांक्षा जागी कि वे मुंशी के नहले पर अपना दहला मारें; और उन्होंने अपने 'सोमनाथ' उपन्यास की रचना की। 'वयं रक्षाम:' की भूमिका में उन्होंने स्वीकार किया है कि उन्होंने कुछ नवीन तथ्यों की खोज की है, जिन्हें वे पाठक के मुँह पर मार रहे हैं। परिणामत: नहले पर दहला मारने के उग्र प्रयास में 'सोमनाथ' अधिक-से-अधिक चामत्कारिक तथा रोमानी उपन्यास हो गया है; और अपने ज्ञान के प्रदर्शन तथा अपने खोजे हुए तथ्यों को पाठकों के सम्मुख रखने की उतावली में, उपन्यास-विधा की आवश्यकताओं की पूर्ण उपेक्षा कर वे 'वयं रक्षाम:' और 'सोना और खून' में पृष्ठों-पर-पृष्ठ अनावश्यक तथा अतिरेकपूर्ण विवरणों से भरते चले गए हैं। किसी विशिष्ट कथ्य अथवा प्रतिपाद्य के अभाव ने उनके इस प्रलाप में विशेष सहायता की है। ये कोई ऐसे लक्ष्य नहीं हैं, जो किसी कृति को साहित्यिक महत्त्व दिला सकें अथवा वह राष्ट्र और समाज की स्मृति में अपने लिए दीर्घकालीन स्थान बना सकें। 'सोना और खून' लिखते हुए चतुरसेन शास्त्री, कदाचित् इतिहास की रौ में ऐसे बह गए कि भूल ही गए कि वे उपन्यास लिख रहे हैं, अत: सैकड़ों पृष्ठ इतिहास ही लिखते चले गए। इससे उपन्यास-तत्त्व की हानि होती है; क्योंकि उपन्यास मात्र इतिहास नहीं है। 'वैशाली की नगरवधू' तथा अन्य अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का लक्ष्य एक विशेष प्रकार के परिवेश का निर्माण करना भी हो सकता है; किन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि अनेक लोग 'वैशाली की नगरवधू' में स्त्री की बाध्यता और पीड़ा देखते हैं। वैसे इतिहास का वह युग, एक ऐसा काल था, जिसमें साहित्यकार को अनेक आकर्षण दिखाई देते हैं। महात्मा बुद्ध, आम्रपाली, सिंह सेनापति तथा अजातशत्रु के आसपास हिन्दी साहित्य की अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियों ने जन्म लिया है। उसमें स्त्री की असहायता देखी जाए, या गणतंत्रों के निर्माण और उनके स्वरूप की चर्चा की जाए, वात्सल्य की कथा कही जाए, या फिर मार्क्सवादी दर्शन का सादृश्य ढूँढ़ा जाए – सत्य तो यह है कि वह परिवेश कई दृष्टियों से असाधारण रूप से रोमानी था।

रांगेय राघव के ऐतिहासिक उपन्यासों की भी एक लम्बी सूची है। यहाँ तक कि उन्होंने उस काल पर भी लम्बे उपन्यास लिखे हैं, जिसका प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं है, अत: उसे प्रागैतिहासिक काल कहा जाता है। 'मुर्दों का टीला' में उन्होंने उस युग का काल्पनिक चित्र प्रस्तुत किया है और अपने अनुमान से एक संस्कृति के विलुप्त हो जाने का कारण बताया है। किन्तु जिस संस्कृति का विस्तार आज हरियाणा ही नहीं गुजरात तक प्रमाणित हो रहा हो, उसका एक जलप्लावन में समाप्त हो जाना, बहुत सहमत नहीं करता। डूबता एक कस्बा है, डूबता एक नगर है। कभी-कभी भूकम्प से पॉम्पेयी जैसा नगर भी ध्वस्त हो जाता है। पर इस प्रकार एक पूरी संस्कृति जलप्लावन में समाप्त नहीं हो जाती। या फिर वह कोई खण्ड प्रलय ही था। किन्तु जहाँ की यह चर्चा है, वहाँ से जल विलुप्त होने के प्रमाण तो

मिले हैं, जलप्लावन के नहीं। फिर भी लेखक की ऐतिहासिक कल्पना की उड़ान का आनन्द तो वैसे उपन्यास देते ही हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी के सारे ही उपन्यास ऐतिहासिक-पौराणिक उपन्यासों की श्रेणी में आते हैं। उनका परिवेश चित्रण अद्भुत है। वे प्रामाणिक भी हैं और आकर्षक भी। किन्तु 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की नायिका भट्टिणी ऐतिहासिक चरित्र नहीं है; और उपन्यास की अनेक घटनाएँ ही नहीं, उसका प्रतिपाद्य भी भट्टिणी पर ही निर्भर करता है। अत: वह उपन्यास ऐतिहासिक न रहकर ऐतिहासिक रोमांस हो जाता है; किन्तु उपन्यास की दृष्टि से वह दुर्लभ कृति है। 'चारुचन्द्रलेख' तथा 'पुनर्नवा' प्राचीन साहित्यिक कृतियों तथा प्रख्यात लोक-कथाओं पर आधृत कृतियाँ हैं। 'अनामदास का पोथा' उपनिषद् के पात्र रैक्व मुनि को केन्द्रीय पात्र बना कर लिखा गया है। अत: उसकी गिनती पौराणिक उपन्यासों में ही होती है; किन्तु स्पष्टत: लेखक के पास अपना प्रतिपाद्य है। वह अपने समय की समस्याओं को सार्वदेशिक और सार्वकालिक समस्याओं के साथ जोड़ कर उनके शाश्वत समाधान को खोज कर प्रस्तुत कर रहा है।

यह सारा सर्वेक्षण मेरे मन में यह धारणा दृढ़ करता है कि ऐतिहासिक उपन्यास की सार्थकता केवल उस देश और काल के सुन्दर और आकर्षक चित्रण मात्र में नहीं है। वह अपने युग को असीम और निर्बाध काल के साथ जोड़ता है और उसका अपना एक निश्चित प्रतिपाद्य भी होता है। उसके अभाव में कोई कृति महत्त्व नहीं प्राप्त कर सकती। यशपाल की 'दिव्या' एक सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए लिखी गई। किन्तु उसमें इतिहास नहीं, मात्र ऐतिहासिक परिवेश है। वहाँ इतिहास का कलात्मक आभास मात्र है, जैसे भगवती चरण वर्मा की 'चित्रलेखा' है। ये ऐतिहासिक उपन्यास नहीं हैं। वहाँ अपनी बात कहने के लिए इतिहास का कलात्मक भ्रम मात्र उत्पन्न किया गया है।

विधाओं के इस क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न जीवनी और उपन्यास का भी है। जीवनी पूर्णत: ऐतिहासिक कृति है; वह उपन्यास नहीं है। रांगेय राघव ने उपन्यास के बहुत निकट रहते हुए, अनेक पात्रों की ऐतिहासिक जीवनियाँ लिखी हैं।

अमृतलाल नागर ने अनेक युगों से सम्बन्धित अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं और उन सबका अपना-अपना महत्त्व है। किन्तु उनके तीन उपन्यास 'एकदा नैमिषारण्ये', 'मानस का हंस' तथा 'खंजन-नयन' कुछ स्पष्टीकरण चाहते हैं। 'एकदा नैमिषारण्ये' के केन्द्र में महाभारत-लेखन का विषय है। वह उपन्यास महाभारत कथा से सम्बन्धित नहीं है, अत: वह पौराणिक उपन्यास नहीं है। उसकी समस्या केवल इतनी है कि महाभारत की वर्तमान प्रति, किस काल में और किन लोगों के द्वारा प्रस्तुत की गई। वह काल पूर्णत: ऐतिहासिक है। पात्र चाहे काल्पनिक ही हों। उपन्यास का नायक 'महाभारत का पुनर्लेखन' है।

'मानस का हंस' और 'खंजन-नयन' हिन्दी के दो महान् कवियों को नायक बना कर लिखे गए उपन्यास हैं। यद्यपि 'खंजन-नयन' के महत्त्व से मुझे कोई इन्कार नहीं है; किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपनी किन्हीं जटिलताओं के कारण वह 'मानस का हंस' के समान न तो चर्चित हुआ और न लोकप्रिय ही।

'मानस का हंस' अनेक रूपों में विलक्षण उपन्यास है। नायक गोस्वामी तुलसीदास के समय की दृष्टि से यह ऐतिहासिक उपन्यास है और उनके जीवन, चिन्तन, साधना तपस्या, लक्ष्य और उपलब्धि की दृष्टि से वह किसी पौराणिक उपन्यास से भिन्न नहीं लगता। उसका नायक पुराण पुरुष है।... किन्तु पुराण पुरुष को आज के एक साधारण पुरुष से अत्यन्त दूर और भिन्न होना चाहिए, जबकि तुलसी एक ऐसे अस्तित्व हैं, जिन्हें हम प्रतिदिन स्मरण करते हैं और अपने बहुत निकट पाते हैं। उनसे तादात्म्य कर सकते हैं।

वह न इन्द्र की अमरावती में जन्म लेता है, न किसी ऋषि आश्रम में। एक अभागा बालक है तुलसी, जो उस समय जन्म लेता है, जब देश और ग्राम पर संकट आया हुआ है। युद्ध चल रहा है। सत्ता का हस्तान्तरण हो रहा है। माता का देहान्त हो जाता है और पिता उसे अभागा मानकर त्याग देते हैं। अन्त: और बाह्य साक्ष्यों पर चित्रित किया गया उनका बचपन बताता है कि जो कोई उसे सहारा देने का प्रयत्न करता है, वह संसार के मंच से हट जाता है। उसमें कुछ भी अलौकिक नहीं है, फिर भी ईश्वरीय लीला का प्रवेश हो ही जाता है। जिसका कोई न हो, उसका ईश्वर होता है। तुलसी का भी ईश्वर ही है। वस्तुत: यह भी पुराणों में आई भक्तों की कथा जैसी ही घटना है कि जब व्यक्ति का अहं पूर्णत: विगलित हो जाता है और वह ईश्वर के सम्मुख पूर्ण आत्मसमर्पण कर देता है, तब ईश्वर उसका हाथ पकड़ लेते हैं।

किशोर होने तक तुलसी देख लेते हैं कि संसार में कितनी हिंसा है, कितना स्वार्थ है! भूख है, नंगई है! अन्न के लिए स्त्री और पुरुष का शरीर मण्डी में बिकता है। सत्ता अत्याचारी है, धन करुणाहीन है, धर्म के केन्द्र भोग में डूबे हैं; ईर्ष्या-द्वेष में लिप्त हैं। प्रत्येक भक्त के समान तुलसी भी अपने ईश्वर से पूछते हैं कि यदि यह सृष्टि उसकी है, तो यह संसार इतना नारकीय क्यों है?

किशोरावस्था में नारीप्रेम है; किन्तु तुलसी अधर्म के मार्ग से अपना प्रेम प्राप्त करने का न तो साहस करते हैं, न प्रयत्न। युवावस्था में दाम्पत्य है और दाम्पत्य का संघर्ष। नारी-पुरुष का विरोध। मायके और ससुराल का पक्ष। पुत्री,

पत्नी और नारी का मनोविज्ञान।... और फिर वैराग्य का आरम्भ। **अन्तहिं तोहि तजेंगे पामर, जो न तजे तू अब ही तें**।... यहाँ से तुलसी एक सामान्य पुरुष से कुछ ऊपर उठते दिखते हैं। यह अस्वाभाविक नहीं है। संवेदनशील मन, वैराग्य का भाव और पत्नी की कठोरता। ऐसे में दो ही विकल्प हैं – या तो वे कामिनी के दास हो जाते, या फिर काम से मुक्त हो जाते। सत्त्वहीन होते, तो जीवन भर के लिये कामिनी के दास होकर रिरियाते। परन्तु राम-का-दास भला काम-का-दास कैसे हो जाता?

तुलसी के माध्यम से एक कवि के निर्माण का चित्रण बहुत ही प्रामाणिक रूप से हुआ है। सर्जक मन तो इस प्रकार उनके साथ हो लेता है, मानो सृजन-प्रक्रिया को जानने और समझने के लिए, उनका अनुचर हो गया हो।

ज्योतिषियों और लेखकों की प्रतिस्पर्धाएँ। विद्वानों का एक-दूसरे के विरुद्ध षड्यंत्र। धन और यश के लिए मारामारी। ईर्ष्या-द्वेष के बिना तो साहित्य का अस्तित्व शायद किसी युग में रहा ही नहीं है।

साधना के मार्ग में बाधाएँ हैं, प्रलोभन हैं। वे स्त्री के रूप में भी आते हैं और धन-सम्पत्ति के रूप में भी। किसी भी क्षेत्र का कोई भी साधक जानता है कि वह आगे बढ़ता है, तो उसे रोकने के लिए विघ्न-बाधाओं के रूप में छोटी-मोटी उपलब्धियाँ ही आती हैं। यदि वह उनमें उलझ जाता है, तो आगे नहीं बढ़ता। उन्हें ठुकरा देता है, तो बड़ी उपलब्धियों तक जा पहुँचता है।

तुलसी अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों से मुक्त होकर समग्र समाज के हो जाते हैं। अत: समाज की पीड़ा को देखते और समझते हैं। तभी तो सामाजिक सेवा को वे राम का काम बताते हैं। भूखे-प्यासे ब्रह्महत्यारे को जल तथा भोजन देते हैं। और जाति के नाम पर ललकार कर कहते हैं – **धूत कहो, अवधूत कहो, रजपूत कहो, जोल्हा कहो कोई। काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगारि न सोऊ।**

यहीं से संसार और वैराग्य का सम्बन्ध स्पष्ट होता है। संसार और ब्रह्म का समन्वय होता है। संन्यासी और समाज का सम्बन्ध प्रकट होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'अनामदास का पोथा' में आई अनेक उक्तियाँ यहाँ स्मरण हो आती हैं। वे कहते हैं कि **तपस्या वन में नहीं होती, समाज में रहकर होती है।** तुलसी को भी समाज की पीड़ा व्यापती है। वे समाज की सेवा में लग जाते हैं।

कामिनी और कंचन का त्याग ही प्रगति का मार्ग है। धन और यश की कामना को त्यागे बिना मुक्त नहीं हुआ जा सकता। तभी तो तुलसी कहते हैं कि धन की तृष्णा से भी बुरी है यश की लिप्सा। और अन्त में रहीम खानखाना द्वारा प्रस्तावित अकबर के दरबार की मंसबदारी को ठुकरा देते हैं।

अध्यात्म का वह सिद्धान्त कि दुखी की सेवा के समान दूसरा पुण्य नहीं है और '**परपीड़ा सम नहिं अधमाई**'। इसे व्यास ने भी कहा है और तुलसी ने भी पहचाना है। यहीं से स्पष्ट होता है कि संन्यास और वैराग्य का स्वरूप क्या है। स्वार्थ से ऊपर उठकर, आसक्ति को त्यागकर, देह के सम्बन्धों से मुक्त हो कर ईश्वर की बनाई समग्र सृष्टि से प्रेम; और उसे शिव मानकर उसकी सेवा ही वैराग्य है। ईश्वर-निर्भरता ही संन्यास है। इसी से अन्तत: साधक को ईश्वर की प्राप्ति होती है।

वस्तुत: अपने इतिहास के उज्ज्वल रूप की पूजा, अपनी संस्कृति की ही पूजा है। तुलसी ने 'राम-चरित-मानस' में समग्र भारतीय संस्कृति का आसव प्रस्तुत किया था। और तुलसी को कथानायक बनाकर अमृतलाल नागर ने विदेशी आक्रमण की क्रूरता और विदेशी शासन की कठोरता के मध्य भी अपनी संस्कृति को अपने जीवन में उतारने और उसकी रक्षा के लिए संघर्ष को जीवन्त कर दिया है।

भाषा की दृष्टि से भी ये सारे ही उपन्यास बहुत समर्थ और सबल हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्द तो अपना अर्थ स्वयं उद्घाटित करते चलते हैं। वे कथा सुनाते हुए भी शब्द-विचार करते चलते हैं। और नागरजी जिस प्रकार चरित्रों के अनुसार बोली को प्रस्तुत करते हैं – वह अद्‌भुत है। उनके यहाँ ग्रामीण की अवधी, नागर की अवधी, सुशिक्षित पण्डित की अवधी और अनपढ़ की अवधी, हिंदू की अवधी और मुसलमान की अवधी का भेद, अपने आप ही आपका ध्यान अपनी ओर खींचने लगता है।

इन उपन्यासों की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इनमें इतिहास आज के पाठक को स्वयं से असंपृक्त अथवा बहुत दूर नहीं लगता। इहलोक और अध्यात्म – दो विरोधी सत्ताएँ नहीं रह जातीं। आरण्यक जीवन और नागरिक जीवन एक दूसरे से अपरिचित नहीं रह जाते।

विवेकानन्द विषयक उपन्यास

उपन्यासकार के रूप में मुझे पिछले कितने ही वर्षों से इन प्रश्नों से जूझना पड़ रहा है। स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में मेरे उपन्यास 'तोड़ो कारा तोड़ो' का पहला खण्ड 'निर्माण' १९९२ ई. में प्रकाशित हुआ था, दूसरा 'साधना' १९९३ ई. में, तीसरा 'परिव्राजक' २००३ ई. में और चौथा 'निर्देश' २००४ ई. में। पहले खण्ड की सूचना पाकर, स्वामीजी के एक भक्त, जो संयोग से मेरे पाठक भी थे, ने पूछा था कि मैं स्वामीजी के विषय में सामग्री कहाँ से लूँगा? उनकी जीवनियों से ही तो! जब मैं उन जीवनियों में कुछ जोड़ नहीं सकता, कुछ घटा नहीं सकता, तो उपन्यास लिखने से मेरा अभिप्राय क्या है? उनकी एक नहीं अनेक अच्छी जीवनियाँ उपलब्ध हैं; ऐसे में उनके विषय में मैं

उपन्यास कैसे लिखूँगा और क्यों लिखूँगा? प्रश्न मेरे अपने मन में भी थे। आज भी हैं। ये प्रश्न विधा सम्बन्धी हैं। जीवनी और ऐतिहासिक उपन्यास में क्या अन्तर है? और जीवनियाँ उपलब्ध हों, तो क्या उपन्यास उससे कुछ अधिक दे सकता है? इन चौदह वर्षों में मैंने पाया कि ऐतिहासिक उपन्यास जीवनी से बहुत अधिक दे सकता है। यदि ऐसा न होता, तो स्वामी विवेकानन्द की जीवनियाँ और उनके भाषण आदि पढ़कर भी पाठक को उपन्यास से ही अधिक तृप्ति क्यों मिलती? उपन्यास जीवनी से अधिक ऐतिहासिक नहीं होता। नहीं हो सकता। फिर भी पाठकों में उपन्यास की माँग क्यों है? स्वामीजी की कोई प्रामाणिक जीवनी नहीं बताती कि पिता के देहान्त के पश्चात् उनका परिवार अकस्मात् ही इतना निर्धन क्यों हो गया था! जीवनी बताती है कि उनकी बहनें थीं, किन्तु पिता के देहान्त के पश्चात् पता ही नहीं चलता कि वे कहाँ गईं। जीवनीकार स्वामीजी की जीवनी लिख रहा है, अत: उनकी बहनों के विवाह की चर्चा क्यों करेगा? स्वामीजी को अल्मोड़ा में अपनी किस बहन की आत्महत्या का समाचार मिला था? ये तथा इस प्रकार के सैकड़ों प्रश्न जीवनियों में अनुत्तरित ही रह जाते हैं। जीवनीकार कहता है कि स्वामीजी ने राजा अजितसिंह से वेदान्त की चर्चा की। हरविलास शारदा और श्यामजी कृष्ण वर्मा से गम्भीर चर्चाएँ कीं। किन्तु वह यह नहीं बताता कि वे चर्चाएँ क्या थीं। वह यह नहीं बताता कि उनके साथ शिकागो तक जानेवाले लल्लू भाई कौन थे और वे बोस्टन के पश्चात् कहाँ विलुप्त हो गए। कुल मिलाकर जीवनी में लेखक सब स्थानों पर उपस्थित है और केवल सूचनाएँ दे रहा है। वह भी छान-छानकर। उपन्यासकार उस सारे परिवेश को जीवन्त बना देता है। वह ईश्वर के समान सारे पात्रों के मन में समा जाता है। वह सब कहीं व्याप्त है, पर दिखाई कहीं नहीं देता। वह परकाया प्रवेश करता है। अपने चरित्रों को दूर से नहीं देखता, उनके साथ तादात्म्य करता है। वही हो जाता है।

तो 'तोड़ो, कारा तोड़ो' ऐतिहासिक उपन्यास बन जाता है। इतिहास और हमारे अपने युग का अन्तराल लगभग समाप्त हो जाता है। उसके नायक का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह नायक पुराण पुरुष है; किन्तु कलकत्ता नगर की सघन आबादी में जन्मा, पला और बढ़ा है। उसने कलकत्ता विश्वविद्यालय में अध्ययन किया है। वह राजकुमारों के समान पला है और अपने पिता के मित्रों के कारण ही दरिद्र हो जाता है। भूखे पेट, फटे और मैले कपड़ों में नंगे पाँव चलते हुए चक्कर खाकर गिर पड़ता है। ऐसे में उसे दिव्य अनुभूति होती है। जिसके विषय में डॉ. हेनरी राइट ने लिखा था कि उसकी विद्वत्ता, अमरीका के सारे विद्वान् प्रोफेसरों की सामूहिक विद्वत्ता से भी अधिक थी, उसे कलकत्ता नगर में सौ रुपए की एक नौकरी नहीं मिलती। वह स्वयं स्वीकार करता है कि उसका जन्म इसलिए नहीं हुआ कि वह विवाह कर बच्चे पैदा करे और कलर्की या मास्टरी करके उनका पालन-पोषण करे। वह एक लक्ष्य लेकर संसार में आया था। उसके गुरु ने उसे 'माँ का काम' कहा था।

भारत भर में घूमकर उसने भारतमाता की सन्तानों का कष्ट देखा था। अत: विभिन्न रियासतों में घूम-घूमकर पुरातन ज्ञान को त्यागे बिना, नूतन युग के ज्ञान को उससे जोड़ने को कहा था। खेतड़ीनरेश राजा अजितसिंह के प्रासाद के ऊपर भौतिकी की प्रयोगशाला खुलवा दी थी। बड़ोदरा के गायकवाड़ को कहा था कि अपने यहाँ के बालकों को तकनीकी शिक्षा दें और इंजीनियरिंग कॉलेज खोलें। अमरीका में कहा था कि हम तुम्हें धर्म देंगे, तुम हमको उद्योग-धन्धे दो। एक संन्यासी इस देश के लिए शिक्षानीति बना रहा था, ताकि देश से निर्धनता और अज्ञान दूर हो सके। अध्यात्म संसार के बहुत निकट आ गया था।

कन्याकुमारी में समाधि में स्वामी विवेकानन्द ने अपने लिए दो मार्ग देखे थे – जगदम्बा के दर्शन, समाधि का सुख और अपने लिए मोक्ष। दूसरा था भारतमाता की निर्धन और पीड़ित सन्तानों की सेवा। उनके लिए भारतमाता और जगदम्बा में कोई अन्तर ही नहीं रह गया था। वह संन्यासी विदेशियों द्वारा भारतमाता के मुख पर पोती गई कालिमा को धोने के लिए अमरीका गया था और गया था कि वहाँ से स्वयं धन कमाकर लाए और इस देश के असहाय दरिद्रों की सहायता करे; क्योंकि वह जान गया था कि इस देश के धनी स्वार्थी और आत्मकेन्द्रित हैं, तथा निर्धन असमर्थ हैं।

यह ऐतिहासिक उपन्यास ईशावास्य-उपनिषद् की उस घोषणा को दुहराता है कि अध्यात्म की उपेक्षा करके केवल संसार की पूजा कर कोई भी देश अथवा समाज प्रसन्न नहीं रह सकता; और न ही कोई देश केवल अध्यात्म को अपना कर संसार की पूर्ण उपेक्षा कर अपना विकास कर अपने लिए सुख अर्जित कर सकता है।

हमारा ऐतिहासिक उपन्यास एक लम्बी यात्रा तय कर आया है और कुछ ऐसे निष्कर्षों पर पहुँच रहा है, जो हमारे समाज के लिए सिद्धान्त मात्रा नहीं हैं। वह उनका दैनन्दिन जीवन है। वह उनको एक समग्र जीवन-दर्शन दे रहा है, जो केवल इहलौकिकता का वर्णन करनेवाले सामाजिक – सांसारिक उपन्यास नहीं दे सकते। हाँ ! पाठक से वह थोड़ी सात्त्विक बुद्धि की अपेक्षा भी करता है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि इस देश को अपनी स्वतंत्रता के लिए भी राजनीति की दलदल में धँसने की आवश्यकता नहीं है। यदि हम अपना सात्त्विक चरित्र प्राप्त कर लेंगे, तो हमारी समस्याओं का समाधान अपने आप ही हो जाएगा। ❑❑❑

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२१३. रहो पाक-साफ, तो खुदा करेगा माफ

सन्त हातम आसम ने जब लोगों में दुराचार बढ़ते देखा, तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। एक दिन जब उनके मकान-मालिक ने उन्हें दावत का निमंत्रण दिया, तो उन्होंने कहा, "अगर आप मेरी तीन शर्तें मंजूर करें, तभी मुझे दावत कुबूल होगी।" मकान-मालिक ने जिज्ञासा की, "कौन-कौन-सी शर्तें?" वे बोले, "एक तो मुझे आपके घर में कहीं भी बैठने की छूट हो; दूसरा, मैं अपनी मर्जी के अनुसार खाऊँगा और तीसरा, आपको मेरी ख्वाहिश पूरी करनी होगी।" शर्तों को मामूली समझकर मकान-मालिक ने स्वीकृति दे दी।

हातम नियत समय पर मकान-मालिक के घर गये। जहाँ जूते रखे हुए थे, वे वहीं जाकर बैठ गये। फिर जहाँ खाना बन रहा था, वहाँ से उन्होंने दो रोटियाँ उठाकर खा लीं और मकान-मालिक से कहा, "मेरा पेट भर गया है, अब कुछ न खाँऊगा। पर मेरी एक ख्वाहिश है कि एक तवा गरम करके यहाँ ले आएँ।" गरम तवा आने पर वे थोड़ी देर के लिये उस पर खड़े हो गये। फिर उतरकर उन्होंने दावत में आये मेहमानों से पूछा, "क्या आप लोग विश्वास रखते हैं कि कयामत (प्रलय) के बाद खुदा को पाई-पाई का हिसाब देना पड़ता है?" सबके द्वारा हामी भरने पर उन्होंने कहा, "तो सभी लोग बारी-बारी से चन्द मिनटों के लिये इस तवे पर खड़े हों।" लोगों ने सुना, तो तवे पर खड़े होने की कल्पना मात्र से ही वे काँपने लगे और बोले, "यह तो हमसे नहीं होगा।" हातम आसम ने कहा, "चन्द मिनटों के लिए गरम तवे पर खड़े रहना एक दिन का हिसाब देने के बराबर होता है, तो कयामत के दिन क्या तुम जलते हुए अंगारों के बजाय जमीन पर ही खड़े रहकर पाई-पाई का हिसाब देना चाहोगे? ध्यान रखो, इस धरती पर आप लोग जो कुछ भी कर रहे हैं, वह खुदा से अनदेखा नहीं रहता। खुदा उसका ठीक हिसाब रखता है। इसलिए इंसान को हमेशा पाक-साफ रहना चाहिए। खुदा को यही पसन्द है। आप लोग मेरे सामने कुबूल करें कि आप लोग नेकी से गुजर-बसर करेंगे।" सबके वचन लेने के बाद वे वहाँ से विदा हुए।

सदाचार ही हमारी जीवनचर्या होनी चाहिये। यदि हमारे आचार-विचार शुद्ध होंगे, तो हमारा चरित्र भी शुद्ध-सात्त्विक होगा। हमें ईश्वर पर विश्वास रखकर स्वार्थपूर्ण आकांक्षाएँ त्यागकर सच्चाई का जीवन बिताना चाहिए और छल-कपट, चोरी-बेईमानी तथा अन्याय छोड़ने का संकल्प करना चाहिए।

२१४. बिसारिये न हिम्मत

अमेरिका के इलिनायस नगर के एक उत्साही युवक ने व्यापार करना शुरू किया, परन्तु उसे इतना जबरदस्त घाटा हुआ और उस पर इतना कर्ज लद गया कि उसे चुकता करने में उसे सत्रह वर्ष लग गये। बाद में उसका एक सुन्दर-सुशील स्त्री से प्रेम हुआ, परन्तु वह भी किसी गम्भीर बीमारी से चल बसी। वह १८३२ ई. में अमेरिकी संसद के चुनाव में खड़ा हुआ, मगर वहाँ भी उसने मुँह की खाई। उसने 'भूमि तथा महसूल विभाग' में नौकरी करनी चाही, पर उसके भाग्य में नौकरी करना लिखा नहीं था। उसने १८३३ ई. में फिर व्यापार करने की कोशिश की, परन्तु इस बार भी उसे घाटा उठाना पड़ा। १८३५ ई. में उसका एक सुशील कन्या से विवाह हुआ, किन्तु वह भी वर्ष भर में ही चल बसी। इस घटना से उसे ऐसा सदमा पहुँचा कि वह स्नायविक रोग से ग्रस्त हो गया। परन्तु उसने हिम्मत न हारी। स्वस्थ होने के बाद १८३८ ई. में वह पुनः चुनाव में खड़ा हुआ, परन्तु इस बार भी भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया।

आजीविका चलाने हेतु मजबूरी में अब वह छोटे-मोटे काम करने लगा। १८४३ ई. में उसकी भूमि-अधिकारी के पद पर नियुक्ति हुई। वह ईमानदारी के साथ काम करने लगा, परन्तु वह इतने से ही सन्तुष्ट नहीं था। १८५६ ई. में उसने उप-राष्ट्रपति पद के लिए और १८५८ में संसद में सदस्यता के लिये भाग्य आजमाया, मगर तब भी रूठे हुए भाग्य ने निराशा ही प्रदान किया।

इन सबके बावजूद वह निराश या निरुत्साहित नहीं हुआ था। उसने उम्मीद नहीं छोड़ी। १८६० ई. में वह राष्ट्रपति-पद का उम्मीदवार बना। इस बार उसे अपने अध्यवसाय का फल मिला और वह चुनाव जीतने में सफल हुआ। वह व्यक्ति था अब्राहम लिंकन, जो अमेरिका जैसे विशाल देश के एक आदर्श राष्ट्रपति के रूप में विख्यात हुआ। उनके उत्कृष्ट कार्यों को अमेरिकी जनता अब तक भुला नहीं सकी है।

जो व्यक्ति आत्मविश्वास तथा धैर्य के साथ प्रयास करता है, कभी हिम्मत नहीं हारता, मनोबल तथा अध्यवसाय के साथ परिश्रम करता रहता है, वह यथासमय अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होता है। ❑❑❑

कर्मयोग – एक चिन्तन (४)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

हमने देखा कि भगवान ने अर्जुन को दो प्रकार की निष्ठायें बतायीं – १. साख्ययोग की निष्ठा और २. योग की निष्ठा। सांख्य अर्थात ज्ञान। ज्ञान के द्वारा ईश्वरप्राप्ति या आत्मसाक्षात्कार और योग अर्थात् कर्मयोग के द्वारा ईश्वरप्राप्ति या आत्मसाक्षात्कार। तो हमने देखा अर्जुन के दो प्रमुख प्रश्न थे –

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ।। (३.१)
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।। (३.२)

अर्जुन भगवान से यह कहते हैं कि हे प्रभु, यदि आप ज्ञानयोग को कर्मयोग की तुलना में श्रेष्ठ समझते हैं, तो इस घोर संहारक विभत्स कर्म में मुझे क्यों लगा रहे हैं?

यदि अर्जुन को ज्ञाननिष्ठा समझ में आ जाती, तो द्वितीय अध्याय में ही गीता समाप्त हो गई होती। क्योंकि गीता का सार द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ दर्शन में कहा गया है। किन्तु अर्जुन के प्रश्न से यह स्पष्ट हुआ कि अर्जुन इसको समझ नहीं पाये। उन्होंने भगवान से कहा कि मानो आप मेरी बुद्धि को मोहित-सी कर रहे हैं। ऐसे ही मैं रिश्तेदार, संबंधियों को देखकर भयभीत हो गया हूँ, और आप भी अपने उपदेश से मानो मुझे मोहित कर रहे हैं। इसलिये मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि आप मुझे निश्चित रूप से बतायें कि मेरे लिये क्या कल्याणकर है। इन दोनों प्रश्न के उत्तर भगवान ने इसी अध्याय में दिया है।

श्रेय और प्रेय क्या है, इस पर भी चर्चा हुई थी कि यदि हमारे जीवन में श्रेय या परम कल्याण की आकांक्षा जागृत नहीं हुई है, यदि हम संसार के भोगों में सुखी हैं तथा ऐसे ही रहना चाहते हैं, और ऐसी आशा रखते हैं कि इंद्रियों द्वारा मिलने वाले भोगों से हम सुखी हो जायें, तो इसका परिणाम क्या होगा? भगवान १६ वें अध्याय में कहते हैं –

आशापाश शतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ।। (१६.१२)

इसकी चर्चा यहाँ आवश्यक नहीं है। किन्तु हम इतना जरूर जानते हैं कि हम जैसे हैं, जहाँ हैं उससे अधिक श्रेष्ठ होना चाहते हैं क्या? क्या हम वर्तमान में अपनी स्थिति से पूर्ण तरह तृप्त हैं? आप जैसे हैं उसमें पूरी तरह संतुष्ट हैं क्या? अगर आप पूर्णरूपेण संतुष्ट हैं, तो आपने गीता प्रतिपादित लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है। आपको गीता पढ़ने या सुनने की आवश्यकता नहीं है। आप स्वयं जीवन्त गीता हैं और इसलिए प्राणम्य हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में यदि आप पूर्ण तरह से संतुष्ट हैं, तृप्त और आनन्दपूर्ण हैं, दु:ख का लेशमात्र भी आपके मन में नहीं है, तो आपको गीता सुनने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु जो अपने वर्तमान से संतुष्ट नहीं है, उसे गीता पढ़ने की आवश्यकता है।

यह हमारे व्यवहार से समझ में आता है कि हम पूर्ण संतुष्ट नहीं हैं, गीता में पूर्ण संतुष्टिप्राप्ति का सभी उपाय बताया गया है। संसार में रहकर कैसे ईश्वरप्राप्ति, ज्ञानप्राप्ति करें या परम संतोष प्राप्ति के या 'आत्मनि एव आत्मना तुष्ट:' ऐसी स्थिति के सभी उपाय गीता में बताये गये हैं। अभी हम कर्मयोग पर विचार कर रहे हैं। किन्तु इसके पूर्व कुछ बातों पर विचार करना आवश्यक है।

सर्वप्रथम हमें यह स्मरण रखना होगा कि कर्म के द्वारा परम शान्ति या मुक्ति संभव नहीं है। केवल कर्म के द्वारा जीवन से दु:खों की आत्यंतिक निवृत्ति और परमसुख की प्राप्ति नहीं की जा सकती। कब प्राप्ति होगी? जब हमारे जीवन के कर्म योग बन जायेंगे, तब ये हमारी ईश्वरप्राप्ति या आत्मसाक्षात्कार में सहायक होंगे।

पहले कर्म की बात पर हम थोड़ा विचार कर समझ लें। दैनंदिन जीवन में हम सदैव व्यस्त रहते हैं, किन्तु उस बात पर हमारा ध्यान नहीं जाता। प्रतिदिन हम जिस कमरे में रहते हैं, उससे कितनी बार बाहर-अंदर आना-जाना करते हैं। किन्तु आपको किसी ने बताया कि जिस कमरे में आप रहते हैं, उस कमरे के दरवाजे पर एक छेद हुआ है, और उससे चीटियाँ आपके कमरे में जाकर कष्ट देती हैं। यह बताने के पहले क्या आपका ध्यान उसकी ओर कभी गया था? नहीं गया था। इसी प्रकार जीवन में हम जिन कर्मों के अभ्यस्त हैं, उन कर्मों की ओर हमारा ध्यान प्राय: नहीं जाता है, किन्तु उन कर्मों का परिणाम अवश्य होता है।

कर्म और क्रिया – इन दोनों में अंतर है। जैसे हम कहते हैं, तुम्हारी अमुक योजना का क्रिया-कर्म हुआ क्या? हम क्रिया और कर्म शब्द का व्यवहार तो करते हैं, किन्तु इन दोनों में भेद इसलिये नहीं कर पाते कि हमें उसकी आवश्यकता का अनुभव नहीं होता। किन्तु जिनके मन में मुक्ति की इच्छा

है, जो शाश्वत शांति चाहता है, उसको सबसे पहले क्रिया और कर्म का भेद समझ लेना आवश्यक है। जब व्यक्ति क्रिया और कर्म के भेद को समझ पायेगा, तभी तो वह कर्म को योग बनाने का प्रयत्न करेगा। अन्यथा कर्म ही नहीं समझते तो योग कैसे करेंगे? कर्म और क्रिया दोनों कृ धातु से बनते हैं। कृ धातु का प्रयोग 'करने के' अर्थ में होता है। जैसे – मैंने पुस्तक उठाई और रख दी। यह कर्म है, क्रिया नहीं है। क्रिया क्या है? हमने भोजन किया। उसके बाद उसका जो पाचन हो रहा है, वह क्रिया है, वह कर्म नहीं है। मैंने भोजन किया और अगर मैं सोच लूँ कि भोजन न पचे, तो ऐसा नहीं हो सकता। अगर ऐसा होता तो जितने लोगों की विषपान से मृत्यु होती है, स्वेच्छा से या परेच्छा से उनमें से कोई न मरता। वह पेट को आज्ञा देते कि विष को हजम मत करो, निकाल दो। लेकिन ऐसा हो सकता है क्या? ऐसा नहीं होता। हम रात में सो जाते हैं। हमारा हृदय निरंतर कार्य करता रहता है। शरीर में रक्त संचार होता रहता है। यह क्रिया है, कर्म नहीं है। प्रकृति से हवा चल रही है, वह क्रिया है। वर्षा होती है, यह क्रिया है। कोई भी क्रिया कर्म कब बनती है? जब क्रिया से कर्ता का अहंकार जुड़ जाता है, तब क्रिया कर्म बन जाती है।

कर्तरी इप्सितं तं कर्म – व्याकरण में सूत्र है। कर्ता जिसकी अभिप्सा करता है, उसे कर्म कहते हैं। तो किसी भी क्रिया में जब कर्ता जुड़ता है, तभी वह कर्म बनता है। इस डायरी का कागज हवा से उड़ रहा है। मैंने पेपरवेट को इसके उपर रख दिया, तो उड़ना बंद हो गया। यह क्रिया तत्काल कर्म हो गयी। जब तक क्रिया से कर्ता न जुड़े तब तक वह कर्म नहीं होता। इसलिये क्रिया मनुष्य में बंधन या मुक्ति का कारण नहीं होती। बंधन और मुक्ति का कारण होता है कर्म। हमारे श्वास-प्रश्वास की क्रिया, यह कर्म नहीं है, हम ऐसा नहीं सोच सकते कि बहुत दिन से श्वास लिया है, अब एक हफ्ते श्वास न लें। ऐसा हम नहीं कर सकते, क्योंकि वह क्रिया है। इस पर हमारा अधिकार नहीं है। क्रिया का भी फल होता है, परिणाम होता है। शरीर में रक्तसंचार हो रहा है, यह क्रिया है, तत्परिणाम-स्वरूप हमारा शरीर स्वस्थ रहता है, किन्तु यह हमारे जीवन में बंधन या मुक्ति का कारण नहीं होता है। बंधन और मुक्ति का कारण कर्म होता है। कर्म किससे होता है? कर्म अहंभाव से होता है, जब मैं कर्ताबुद्धि रखता हूँ। मैंने यह ग्लास उठाया, यह क्रिया नहीं है, ये कर्म हो गया, कर्म के पीछे एक भावना रहती है।

यहाँ मैं एक निवेदन आपसे करूँ। प्रत्येक साधक को यह स्मरण रखना चाहिये कि कर्म सदैव निरपवाद उत्तमपुरुष में ही होता है। वह आ रहा है – यह अन्य पुरुष हो गया। तू आ रहा है – यह मध्यम पुरुष हो गया। मैं आ रहा हूँ – यह उत्तम पुरुष हो गया। कर्म सदैव उत्तम पुरुष में होगा, इसलिये कर्मयोग भी सदैव उत्तम पुरुष में ही होगा। अध्यात्म और धर्म सदैव उत्तम पुरुष में ही हो सकता है। यदि मैं किसी व्यक्ति से कहूँ – स गच्छति – वह जाता है, तो उसके जाने का कर्म मेरे जीवन से संबंधित नहीं है। किन्तु जब मैं कहूँगा – अहं गच्छामि – मैं जाता हूँ, तो चलने की क्रिया से मैं जुड़ गया। अहं कर्ता हो गया। इसलिये चलकर मैं मंदिर में जा रहा हूँ। दूसरा व्यक्ति भी कहता है – अहं गच्छामि। वह शराब की दुकान की तरफ जा रहा है। दोनों ही कर्ता हैं, चलने की क्रिया दोनों में समान है। जो मद्य खरीदने के लिये जा रहा है, और जो मंदिर में जा रहा है, इसमें चलने की क्रिया समान है। पर एक कर्ता मंदिर में भगवान के दर्शन करने, जप करने, प्रणाम करने जा रहा है और दूसरा व्यक्ति चलकर मद्यपान करने जा रहा है। दोनों की क्रिया में कोई अंतर नहीं आया। अंतर आया है कर्ता से। इसे जानना और स्मरण रखना आवश्यक है, क्योंकि यह कर्मयोग का प्राण है। यद्यपि गीता का तीसरा अध्याय कर्मयोग कहा जाता है, किन्तु उसके सूत्र दूसरे अध्याय में ही उपलब्ध हैं। हम श्लोकश: इसे देखने का प्रयास करेंगे।

यह बात अब समझ में आ गयी कि क्रिया के लिये मनुष्य उत्तरदायी नहीं है, इसलिये क्रिया न तो बंधन का कारण है और न मुक्ति का कारण है, वह प्रकृति की प्रक्रिया है। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के कारण क्रिया होती है। अनादि काल से क्रिया हो रही है और अनन्त काल तक चलती रहेगी। जब हमने यह बात ठीक से समझ ली कि जब हम किसी क्रिया से जुड़ते हैं, जब अहं जुड़ता है, तो वह क्रिया कर्म हो जाती है। फिर उस कर्म का फल अवश्य होता है। क्रिया का भी फल होता है, पर उस फल से मनुष्य का अन्त:करण प्रभावित नहीं होता है, देह प्रभावित होती है। क्रिया के प्रभाव से देह पुष्ट हुई या नष्ट हुई, किन्तु इससे मनुष्य को न तो कोई बंधन होगा और न तो मुक्ति में सहायता मिलेगी। मृत्यु के समय जिस कर्म से मेरा अहं जुड़ा होगा, उसका परिणाम मेरे मन पर होगा। अगर मृत्यु के समय यह चिन्तन मेरे जीवन में होगा कि मेरे पास भी इतना धन होता कि मैं दस मोटर गाड़ियाँ रख लेता, तो वह कर्म हो गया और उसके लिए पुन: जन्म लेना पड़ेगा, और मोटर की आकांक्षा मुझसे क्या नहीं करायेगी। मृत्यु की क्रिया एक ही है, किन्तु अहं से जुड़ने से हमारा कर्म बंधन का और अहं से नहीं जुड़ने से मुक्ति का कारण हो जाता है। अहं से हम कैसे जुड़ते हैं? हम जैसे अन्य वस्तुओं को देखते हैं, वैसे ही क्या हममें से किसी ने अहं को देखा है? नहीं, किन्तु हम सब अहंकार का अनुभव करते हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी निश्चयानन्द (१)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

''स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रचारित नर-नारायण की सेवा के द्वारा उन्होंने उसी पद की उपलब्धि की है, जिसको ज्ञानी लोग विचार के द्वारा, भक्तगण भजन के द्वारा और योगीगण ध्यान के द्वारा प्राप्त किया करते हैं।'' रामकृष्ण संघ के जिन महान् संन्यासी के विषय में एक बार उद्बोधन मासिक ने ऐसा मत व्यक्त किया था, वे स्वामीजी के एक घनिष्ठ शिष्य स्वामी निश्चयानन्द थे। अपने जीवन में त्याग, तितिक्षा तथा दृढ़ निश्चयता के गुणों द्वारा उन्होंने अपने गुरुदेव द्वारा प्रदत्त इस नाम की सार्थकता यथार्थ रूप से सिद्ध कर दी थी। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि श्रीगुरु द्वारा निर्दिष्ट सेवाधर्म की साधना में पूर्ण आत्मोत्सर्ग करके निश्चयानन्द आदि स्वामीजी के शिष्यगण सनातन संन्यासी-सम्प्रदाय के बीच एक नवीन युगोपयोगी दर्शन की स्थापना की है। पुरातनपन्थी साधुओं के बीच मानव-सेवा का उच्च साधनादर्श वस्तुत: विशेष आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। परन्तु वर्तमान युग में श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द का शिवज्ञान से जीव-सेवा के महान् सन्देश ने तत्त्वाभिलाषी मानव के सम्मुख एक नवीन आदर्श प्रस्तुत किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि निश्चयानन्द तथा उनके प्रिय गुरुभाई कल्याणानन्द की अक्लान्त सेवा-साधना ने इस नवीन सन्देश को उत्तराखण्ड के सनातन-पन्थी लोगों के बीच पहुँचाने में विशेष योग दिया है।

स्वामी निश्चयानन्द का पूर्वाश्रम महाराष्ट्र के जंजीरा के निकट एक छोटे-से गाँव में था। उनका पूर्वनाम सूरज राव था। उनका जन्म लगभग १८६५ ई. में एक निर्धन क्षत्रिय परिवार में हुआ था। परिवार की निर्धनता से उन्हें अंग्रेजी की पढ़ाई-लिखाई करने का अधिक दिन सुयोग नहीं मिला। परन्तु मराठी भाषा वे भलीभाँति जानते थे और दक्षिण की दो-एक अन्य भाषाएँ भी उन्हें ज्ञात थीं। परवर्ती जीवन में वे बँगला भाषा को समझ तथा बोल लेते थे, यद्यपि वे उस भाषा में पढ़-लिख नहीं सकते थे। पूर्वाश्रम में वे रावजी के नाम से परिचित थे।

विद्यालय छोड़ने के बाद रावजी ने भारतीय सेना में नौकरी कर ली। उनके व्यक्तित्व में संसार के प्रति विराग, हार्दिक उदारता तथा आचरण की मधुरता आदि गुण खूब प्रस्फुटित हुए थे। तथापि निर्धनता की ताड़ना के फलस्वरूप अन्य कोई चारा न देख, उन्हें एक सैनिक का जीवन स्वीकार कर लेना पड़ा था। रावजी को दक्षिण-कर्नाटक-पल्टन में काम मिला था। अस्तु, सेना के इस कार्य में उन्हें अपनी एक स्वाभाविक आकांक्षा पूरी करने का खूब अवसर मिला था। उनमें बचपन से ही देश-भ्रमण तथा मन्दिरों के दर्शन आदि का बड़ा शौक था। परन्तु गरीब परिवार में जन्म लेने के कारण उनकी वह साध पूरी होने की अति अल्प ही सम्भावना थी। परन्तु सेना के कार्य में उन्हें अपने पल्टन के साथ विभिन्न प्रदेशों में जाना पड़ता था। इन यात्राओं के दौरान वे किसी-न-किसी प्रकार उन अंचलों के प्रसिद्ध मन्दिरों तथा तीर्थों के दर्शन का सुयोग बना ही लेते। परवर्ती जीवन में वे अपने उस काल के विभिन्न अनुभवों की बातें बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया करते थे। एक बार इसी प्रकार के एक प्रसंग में उन्होंने कहा था, ''रामायण में उल्लेखित सरोवर देखने गया था। देखा, पर्वतीय अंचल में दो सरोवर हैं। एक का नाम था 'पम्पा' और दूसरे का नाम था 'झम्पा'। रामायण में उल्लेखित सभी घटनाओं का स्मरण हो आने से मन में तरह-तरह के भाव उठने लगे – मस्तिष्क आलोड़ित करते हुए स्मृतिपथ पर विभिन्न तरंगें प्रवाहित होने लगीं। ऐसा आनन्द जीवन में बहुत कम ही मिला है।'' फिर वे दक्षिणी भारत के बड़े-बड़े मन्दिरों के विषय में खूब बोलते, ''एक-एक मन्दिर एक-एक किले या नगर के समान है।'' विभिन्न राज्यों के नाना प्रकार के रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार आदि को भी उन्होंने बड़े ध्यान से देखा था और उनका वर्णन किया करते थे। रावजी के उन वर्णनों से उनकी तीक्ष्ण दृष्टि, सौन्दर्य-बोध तथा ज्ञान-स्पृहा का परिचय मिलता था।

सेना के इस कार्य के सिलसिले में रावजी को बर्मा, श्याम, जिब्राल्टर, माल्टा आदि देशों में भी व्यापक भ्रमण का सुयोग मिला था। बर्मा में रहते समय वे अन्दमान-द्वीपसमूह भी घूम आये थे। उन्होंने अन्दमान के आदिवासी लोगों के साथ मेल-जोल करके उन्होंने उन लोगों की शिक्षा-सभ्यता विहीन जीवन-यापन प्रणाली के विषय में बहुत-सी विचित्र जानकारियों का संग्रह किया था। सैनिक के रूप में उनकी दक्षता उनके पूरे पल्टन में सुविदित थी। लक्ष्यभेद में वे इतने कुशल थे कि सुनते हैं कि उनकी बन्दूक की गोली कभी अपने लक्ष्य से नहीं चूकी थी। सैन्य विभाग की लक्ष्य-भेद आदि विषयों की परीक्षा में वे हमेशा उच्च स्थान प्राप्त

करते थे। बर्मा में रहते समय वे एक छोटी-सी टुकड़ी के नायक (लांस कार्पोरल) के पद पर उन्नीत हुए थे।

श्रीरामकृष्ण के एक शिष्य स्वामी निरंजनानन्द अपने परिव्राजक जीवन में एक बार मध्यप्रदेश के रायपुर अंचल में भ्रमण कर रहे थे। रावजी उस समय सरकारी कार्य से रायपुर गये हुए थे। संयोगवश वहाँ उनकी निरंजनानन्दजी के साथ भेंट हो गयी। इस महत्त्वपूर्ण भेंट ने रावजी का ईश्वरीय मार्ग के साथ परिचय करा दिया था। श्रीरामकृष्ण के एक त्यागी शिष्य के सम्पर्क में आकर सैनिक सूरज राव के चित्त में त्याग की लौ लग गयी। उन्हें निरंजनानन्दजी के मुख से ही सर्वप्रथम श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द की बातें सुनने को मिलीं। इसके बाद स्वामीजी के दर्शनाकांक्षा से उनके मन में व्याकुलता पैदा हुई और वे इसके लिये सुयोग की प्रतीक्षा करने लगे। वस्तुत: स्वामी निरंजनानन्द के साहचर्य ने ही रावजी की जीवनधारा के लक्ष्य को परिवर्तित कर दिया था।

विदेशों में स्वामीजी द्वारा किये जा रहे वेदान्त-प्रचार के समाचार उन दिनों प्रत्येक अखबार में नियमित रूप से प्रकाशित हुआ करते थे। रावजी भी बड़े आग्रहपूर्वक उन समाचार-पत्रों को पढ़कर स्वामीजी के सन्देश को आत्मसात् करते। उन्हें स्वामीजी के बारे में जितनी भी जानकारी मिलती गयी, उतने ही वे उनके प्रति एक तरह के आकर्षण का बोध करने लगे। इस आकर्षण में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही थी। तभी समाचार फैला कि स्वामीजी भारत लौट आये हैं और रामनाद से परमकुड़ी, मानमदुरा तथा कुम्भकोणम होते हुए मद्रास आ रहे हैं। सौभाग्यवश रावजी उस समय मद्रास नगर से थोड़ी ही दूरी पर एक गाँव में निवास कर रहे थे।

१८९७ ई. के जनवरी का महीना था। स्वामीजी ने एक विशेष ट्रेन के द्वारा कुम्भकोणम से मद्रास की यात्रा की। मार्ग में प्राय: सभी स्टेशनों पर प्रतीक्षारत जन-समुदाय ने उनका विराट् रूप में अभिनन्दन किया था। विशेषकर मायावरम् स्टेशन पर लोगों की भीड़ देखने योग्य थी। वहाँ स्टेशन के प्लेटफार्म पर ही स्वामीजी ने एक स्वागत-सभा में समवेत जनता के सश्रद्ध अभिनन्दन का अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु मर्मस्पर्शी उत्तर दिया था। उन्होंने विनीत भाव से कहा था, "मैंने कोई विशेष बड़ा कार्य नहीं किया है। कोई इसे मुझसे भी अच्छी तरह कर सकता है। तथापि प्रभु ने मुझे जिस कार्य के लिए भेजा था, मैं केवल उसे ही पूरा कर आया हूँ। मेरे तुच्छ परिश्रम को आपकी जो सहानुभूति मिली है, मैं उसके लिए कृतज्ञ हूँ।" सैकड़ों कण्ठों से "जय स्वामी विवेकानन्द महाराजजी की जय" की ध्वनि के बीच स्वामीजी की ट्रेन पुन: मद्रास की ओर रवाना हुई। इसके बाद मद्रास के पूर्व अन्य किसी भी स्टेशन पर गाड़ी के ठहरने की बात नहीं थी।

स्वामीजी इतने निकट से होकर चले जा रहे थे और वे लोग उनके दर्शन का सौभाग्य नहीं पा सकेंगे – इस चिन्ता ने रावजी को बड़ा ही विचलित कर डाला। इधर सैकड़ों ग्रामवासी उनकी मात्र एक झलक पाने के लिये रेल-लाइन के किनारे और उस अख्यात छोटे-से स्टेशन के प्लेटफार्म के ऊपर आकर भीड़ के रूप में एकत्र हो रहे थे। रावजी भी कमरे में बैठे नहीं रह सके। सैनिक सूरज राव अधीर होकर दर्शनार्थी जनता की विराट् वाहिनी को संगठित करके निश्चय किया कि चाहे जैसे भी हो स्वामीजी को वहाँ रोकना ही होगा। वे लोग स्टेशन मास्टर से गाड़ी को कम-से-कम पाँच मिनट के लिये रोकने की व्यवस्था करने के लिये अनुनय-विनय करने लगे। परन्तु स्टेशन मास्टर के पास गाड़ी को रोकने का अधिकार नहीं था। आखिरकार रावजी ने निश्चय किया कि वे लोग अपना जीवन दाँव पर लगाकर रेल लाइन पर लेट जायेंगे और स्वामीजी की गाड़ी अवश्य ही रुकवायेंगे। स्वामीजी की गाड़ी के प्लेटफार्म में प्रवेश करने के पूर्व ही देखा गया कि सचमुच ही उन्मत्त जनसमुद्र रेल लाइन के ऊपर टूट पड़ा है और असंख्य लोग लाइन के ऊपर लेटे हुए हैं। आखिरकार ट्रेन को रुकने के लिये बाध्य होना पड़ा। गार्ड साहब को मामला समझते देर न लगी। उत्फुल्ल जनता स्वामीजी का दर्शन पाने के लिये स्वामीजी के डिब्बे की ओर दौड़ पड़ी। स्वामीजी उन लोगों की स्वत:स्फूर्त श्रद्धा पर मुग्ध हो गये और कई मिनट तक डिब्बे के दरवाजे पर हाथ जोड़कर लोगों का अभिवादन स्वीकार किया और विदा लेते समय हाथ उठाकर सबके ऊपर अपने आशीष की वर्षा की।

रावजी के भाग्य से उन्हें स्वामीजी का प्रथम दर्शन इसी प्रकार हुआ था। परन्तु क्षण भर के इस दर्शन ने उनकी तृष्णा को और भी विक्षुब्ध कर दिया। सूरज राव एक सैनिक थे, अत: उनके लिये हार मानने या पीछे हटने का कोई प्रश्न ही नहीं था। वे वापस नहीं लौटे और मद्रास की ओर चल पड़े। वे साथ में पर्याप्त पैसे लेकर नहीं निकले थे, अत: उन्होंने पैदल ही चलना आरम्भ किया। मार्ग को संक्षिप्त करने के लिये वे समुद्र के तट पर चल रहे थे – इधर संध्या आसन्न थी, इसीलिये तेजी से चले जा रहे थे। समुद्रतट पर लाइन से मछुवारों के घर बने हुए थे। रावजी ने देखा कि समुद्रतट का अन्धकार असंख्य दीपों की माला से आलोकित हो रहा है, मानो कोई उत्सव मनाया जा रहा हो। घर-घर में दीपमालिका सजाई हुई थी और मछुवारों के बच्चे भी आनन्द में उन्मत्त हो रहे थे। आनन्दोन्मत्त बच्चों की एक टोली से रावजी ने पूछा, "आज यहाँ किस चीज का उत्सव है?" बच्चों ने उत्तर दिया, "जानते नहीं, जगद्गुरु आ गये हैं!" अहा, मद्रास के मछुवारे तक जगद्गुरु के

आगमन के उपलक्ष्य में उत्सव मना रहे हैं! रावजी को समझते देर न लगी कि ये जगद्गुरु कौन हैं! उन्होंने सम्यक् रूप से अनुभव किया कि विश्वपूज्य ये जगद्गुरु सचमुच ही जन-गण-मन-अधिनायक हैं।

रावजी आखिरकार मद्रास तो पहुँच गये, परन्तु उस समय भी गहरी रात थी। वे मद्रास नगर के मार्गों से परिचित न थे, फिर चलते-चलते काफी थक भी चुके थे, अत: इतनी रात के समय अब अधिक चलना उनके लिये सम्भव नहीं था। एक पैदल यात्री से पूछने पर उन्हें ज्ञात हो गया कि स्वामीजी कहाँ ठहरे हैं और यह भी पता चला कि वे भूल के कारण नगर से सात मील दूर आ गये हैं। अन्य कोई उपाय न देखकर वे एक तालाब के किनारे गमछा बिछाकर बैठ गये और खूब निश्चिन्तता के साथ वहीं बाकी रात बिता दी। अनाहार, अनिद्रा तथा रास्ते की थकान के कारण कष्ट का अनुभव होने के बावजूद रावजी जरा भी निराश नहीं हुए थे। सुबह होते ही उन्होंने पुन: अपने मार्ग पर चलना शुरू कर दिया। स्वामीजी उस समय बिलगिरि अयंगार के 'कैसल कर्नन' (अब 'विवेकानन्द इल्लम्') नामक भवन में ठहरे हुए थे। सुबह के करीब सात बजे रावजी आकर 'कैसल कर्नन' के द्वार पर उपस्थित हुए। उस दिन वहाँ अनेक दर्शनार्थी उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। रावजी भी जाकर उन्हीं लोगों में सम्मिलित हो गये। सुदीर्घ पाँच घण्टों के इंतजार के बाद लगभग बारह बजे उन्हें स्वामीजी के चरणों के समीप जाने का अवसर मिला। रावजी के नेत्रों से अबाध अश्रुपात् होने लगा – क्या आज वे सचमुच ही जगद्गुरु के चरणों में आ पहुँचे हैं! आनन्द के आवेग से उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया। उन्होंने स्वामीजी को साष्टांग प्रणाम किया और चुपचाप उनके चरणों में बैठे रहे। एक-एक कर सभी लोग प्रणाम करके जाते रहे, परन्तु सूरज राव उसी स्थान पर बैठे रहे। स्वामीजी की स्नेहदृष्टि एक बार अपने भावी शिष्य के ऊपर जा पड़ी। 'क्या नाम है', 'कहाँ से आये हो', 'क्या चाहते हो', 'स्नान-भोजन आदि हुआ है या नहीं' आदि छोटी-मोटी बातें पूछने के बाद स्वामीजी ने उनसे भोजन आदि करके थोड़ा विश्राम कर लेने को कहा। रावजी स्वामीजी के आदेशानुसार विश्राम आदि करके थोड़े स्वस्थ हुए। इसके बाद उन्होंने पुन: स्वामीजी के पास जाकर उन्हें सूचित किया कि उनकी संसार में लौटने की जरा भी इच्छा नहीं है। यदि स्वामीजी कृपा करके उन्हें अपने चरणों में आश्रय प्रदान करें, तो वे अपने को कृतकृत्य समझेंगे। परन्तु स्वामीजी रावजी को मना करते हुए बोले, "नहीं, अभी नहीं। तुम बाद में कलकत्ते आकर मुझसे मिलना।" रावजी को उस बार भारी मन के साथ घर लौट आना पड़ा। अस्तु, उन्होंने कुछ दिन मद्रास में रहकर स्वामीजी के व्याख्यान आदि सुनने का सुयोग नहीं छोड़ा।

स्वामीजी ने सूरज राव से कलकत्ते आकर मिलने को कहा था, वह 'मिलना' कब होगा – वे इसी की प्रतीक्षा में दिन गिनने लगे। दिन, महीने, वर्ष बीत गये – परन्तु उन्होंने मन में दृढ़ निश्चय कर रखा था कि वे स्वामीजी के चरणों में आश्रय अवश्य लेंगे – संसार-बन्धन को छिन्न करके वे अनन्त के राज्य में अवश्य प्रवेश करेंगे। उस समय सेना की नौकरी ही उनके मार्ग की प्रमुख बाधा होकर खड़ी थी। सेना के नियमानुसार शरीर स्वस्थ हो, तो स्वेच्छापूर्वक कर्मत्याग करना दण्डनीय अपराध था। रावजी कोई भी दण्ड शिरोधार्य करने को तैयार थे, यदि उसके बदले उनके कर्म-बन्धन से छूटने का उपाय हो जाता। परन्तु ऐसा तो सम्भव ही नहीं था – क्योंकि दण्ड तो होता ही, परन्तु कार्य से छुटकारा नहीं मिलता। इस एक नवीन समस्या ने संसार-विरागी सैनिक को उद्विग्न कर डाला। इधर उनकी क्रम-वर्धमान अनासक्ति तथा उदासीनता को देखकर सेना के वरिष्ठ अधिकारी सोचने लगे कि उनके मस्तिष्क में निश्चय ही कोई विकार हुआ है और अन्तत: उन लोगों ने उनके इस मनोविकार की चिकित्सा की भी व्यवस्था की। विधि के विधान से यही रावजी के लिये परम आशीर्वाद सिद्ध हुआ। सेना के चिकित्सक-गण इस अपूर्व उन्माद के विषय में बड़े चिन्तित हो पड़े। उन लोगों ने निर्देश दिया कि सूरज राव के सिर पर प्रतिदिन आधे मन से लेकर एक मन तक बरफ से दबाकर रखा जाय, इसी से उनका मनोरोग दूर हो जायगा। जैसा अद्भुत रोग था, वैसी ही अद्भुत चिकित्सा भी थी! चिकित्सा की जटिलता जितनी ही बढ़ने लगी, रावजी की 'व्याकुलता' में भी उतनी ही वृद्धि होने लगी। हाय, बेचारे चिकित्सक लोग भला कैसे जानते कि इस पर तो एक आध्यात्मिक पागलपन सवार है। सामान्य उन्माद की तो चिकित्सा सम्भव है, परन्तु आध्यात्मिक पागलपन की कोई दवा नहीं है। जो जागते हुए भी नींद में डूबा हुआ है, उसे भला कौन जगा सकता है? आखिरकार इस रोग को असाध्य समझकर उन लोगों ने 'उन्मादग्रस्त' सूरज राव को नौकरी से बरखास्त कर दिया। नौकरी से मुक्त होकर रावजी ने चैन की साँस ली। अब उनका एकमात्र लक्ष्य कलकत्ते पहुँचना था। रावजी ने एक पुराना कम्बल कन्धे पर लिया और दीन-अकिंचन वेश में स्वामीजी के चरण-दर्शन हेतु कलकत्ते की ओर चल पड़े। ❖ **(क्रमशः)** ❖

आहार-विहार में सन्तुलन

स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती

एक बार एक महात्माजी एक दिन के अन्तर से भोजन करने लगे। फिर, दो दिनों के अन्तर से भोजन करने लगे। तदुपरान्त, तीन दिनों के अन्तर से भोजन करने लगे। इस क्रमानुसार धीरे-धीरे अन्तर बढ़ाकर वे सात दिनों के अन्तराल से भोजन करने लगे। सात दिनों तक कुछ भी नहीं खाते, केवल गंगा-जल पीकर ही रहते। उन्हें स्वप्न में देवी-देवता दिखायी देने लगे। लेकिन वे देवी-देवता जो बातें कह जाते, वे सब-की-सब एकदम झूठी होतीं। एक दिन वे महात्माजी श्री उड़िया बाबाजी महाराज के पास आये और अपना अनुभव सुनाया। बाबा ने कहा, "महात्मन्! आप प्रतिदिन नियमित रूप से आत्मसम्मित भोजन किया करो।"

जब वे महात्माजी वहाँ से चले गये, तब मैंने बाबा से पूछा, "महाराज! वे महात्माजी तो कहते थे कि स्वप्न में दुर्गाजी प्रत्यक्ष होकर बोलती हैं और शंकरजी स्पष्ट बोलते हैं, तो दुर्गाजी और शंकरजी की बातें जाग्रत में सरासर झूठी क्यों निकलती हैं?" बाबा बोले, "बेटा! असल में उन महात्मा के स्वप्न में दुर्गाजी या शंकरजी प्रत्यक्ष होकर नहीं बोलते हैं। नियमित-सन्तुलित भोजन न करने से इनके सिर में गर्मी चढ़ गयी है। इसी के प्रभाव से इन्हें इन देवी-देवताओं के दृश्य दिखायी देते हैं। हठपूर्वक भूखे रहने के कारण ही इन्हें अब तक कोई सफलता भी नहीं मिली है।"

जो लोग समझते हैं कि ईश्वर पर हमारा हठ चलेगा, वे बड़े भारी भ्रम में हैं। शास्त्र के अनुसार ईश्वर मनवाला नहीं माना जाता है। मनवाला तो कार्योपाधिक जीव है। ईश्वर कारणोपाधिक है। कारणरूप माया में मनरूप कार्य नहीं है। कार्य न होने से संकल्प भी नहीं है। ईश्वर का अपना तो कोई संकल्प होता ही नहीं है। श्री वाचस्पति मिश्र कहते हैं, "अन्तःकरण-उपाधिक जीव है। अन्तःकरण-अभाव-उपाधिक ईश्वर है। भाव-अभाव-उपाधि-विनिर्मुक्त निरुपाधिक ब्रह्म है। ब्रह्म में समस्त उपाधियाँ अनिर्वचनीय हैं।"

जो लोग सोचते हैं कि हम आहार त्यागकर या श्वास रोककर ईश्वर को प्राप्त कर लेंगे, वे भ्रम में हैं। ध्रुव ने प्राणायाम किया, किन्तु विराट् विश्व के साथ तादात्म्य करके प्राणायाम किया। इसके फलस्वरूप हिरण्यगर्भ का आसन डोल गया। हिरण्यगर्भ के प्रार्थना करने पर अन्तर्यामी नारायण का प्रादुर्भाव हुआ। ध्रुव ने प्रार्थना करते हुए कहा है, "जो मेरे भीतर प्रवेश करके अपने प्रकाश से मेरी इस सोयी हुई वाणी को और हाथ-पैर-श्रवण-त्वचा आदि अन्य इन्द्रियों को तथा प्राण को संजीवित कर रहे हैं, उन अखिल शक्तिधर अन्तर्यामी पुरुष भगवान को नमस्कार है।" –

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
सञ्जीवयत्यखिल-शक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्त-चरण-श्रवण-त्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥

भोजन में समता होनी चाहिये। भोजन का अभिप्राय सब इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण है। यदि कोई तीन घण्टे सिनेमा के पर्दे पर आँखें लगाये रहे, तो उसकी आँखों की ऐसी स्थिति हो जायेगी कि वह योगाभ्यास नहीं कर सकेगा। उसके नेत्रों के द्वारा अति-भोजन किया गया है। इसी प्रकार कान-नाक-त्वचा और जिह्वा से भी अति-भोजन होता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः – "बहुत अधिक भोजन करने वाले के लिये योग नहीं है। सर्वथा अनशन करने वाले के लिये भी योग नहीं है।" आत्म-सम्मित भोजन चाहिये। शतपथ ब्राह्मण की श्रुति है – **यत् आत्मसम्मितमन्नं सन्न हिनस्ति** – "जो अन्न और जितनी मात्रा में अपने को अनुकूल है, वह अपने को हानि नहीं करता।"

अन्न में छः गुण होने चाहिये – सौरूप्य, सौरभ्य, सुस्वादत्व, सुपाच्यत्व, सौमनस्य और सौहित्य। सौरूप्य अर्थात् भोजन देखने से मन प्रसन्न हो। भोजन देखने से मन में कोई बुरा भाव न बने। सौरभ्य – भोजन की गन्ध प्रिय लगनेवाली हो। सुस्वादत्व – वह स्वाद में उत्तम हो। सुपाच्यत्व – ठीक से पच जानेवाला हो। सौमनस्य – मन के लिये उत्तेजक न हो। और सौहित्य – स्वास्थ्य के लिये हितकारी हो। इन समस्त गुणों से युक्त भोजन भी मात्रा से अधिक नहीं खाना चाहिये। जो आत्मसम्मित मात्रा से अधिक खाता है, वह अतिभोजी है। उस अतिभोजन करने वाले के लिये योग नहीं है – **आत्मसम्मितम् अन्नमतीत्याश्नाति इत्यत्यश्नन् तस्य अत्यश्नतस्तु योगो नास्ति**।

संन्यासी के लिये प्रतिदिन आठ ग्रास भोजन करने का विधान है। ये ग्रास आँवले के बराबर होने चाहिये – **अष्टौ ग्रासा मुनेर्भोक्ष्याः**। जो लोग चान्द्रायण व्रत करते हैं, वे कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से एक-एक ग्रास घटाते हुए अमावस्या को उपवास करते हैं और फिर एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास खाते हैं। इस प्रकार महीने भर में वे दो सौ चालीस ग्रास खाते हैं। प्रतिदिन आठ ग्रास खाने से भी महीने भर में इतना ही खाया जाता है। अतः शास्त्र इस भोजन को यति-चान्द्रायण कहता है।

जबलपुर में एक बड़े डॉक्टर ने मुझसे कहा, "स्वामीजी! आप अन्न खाना कम कर दो। आपको पेट में भार रखने का अभ्यास हो गया है। यदि पेट भरा नहीं रहेगा, तो सन्तोष नहीं होगा, अतः जितने से पेट भरे, उतना शाक-सब्जी खा

लिया करो।'' योग इस बात से सहमत नहीं है कि शाक-सब्जी से पेट भर लिया जाय। **स-व्यञ्जनस्यार्धम्** – अन्न भी खाओ; साथ में सब्जी-फल आदि व्यंजन भी खाओ, पर कुल मिलाकर आधा ही पेट भरो। सभी व्यंजन मिला-जुलाकर खाने पर भी आधे पेट से अधिक नहीं भरना चाहिये।

पूरयेदशनेनार्धं त्वर्धं तोयेन पूरयेत्।
वायोः संचरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत्।।

– ''आधा पेट शुद्ध अन्न भोजन करे। चौथाई पेट जल से भरे चौथाई पेट वायु-संचार के लिये खाली रहने दे।''

अन्नं न परिचक्षीत अन्नं ब्रह्म।। (श्रुति)

अन्न ब्रह्म है। अन्न की निन्दा न करें। भले आप कोई भोजन न करें; किन्तु करें, तो भोजन की निन्दा न करें। जो मनुष्य भुज्यमान अन्न की निन्दा न करने का व्रत ले लेता है, उसे कभी अन्न की कमी नहीं होती है।

अद्या-अन्नम्-अकुत्सयन्।। (मनुस्मृति)

मैंने एक व्यक्ति को देखा था। उसके सामने भोजन की थाली आयी। उसमें रखी एक रोटी कुछ जली हुई थी। उसने क्रोध में आविष्ट होकर थाली उठाकर फेंक दी। उसी व्यक्ति को अब भोजन का कष्ट है। अधिक खा लेने से भी अन्न का तिरस्कार होता है। जब खाया हुआ भोजन ठीक नहीं पचेगा, तो वह मल बनेगा। बिना पचाये अन्न को मल की अवस्था में पहुँचा देना भई अन्नब्रह्म का तिरस्कार ही है। इसी प्रकार सर्वथा न खाना भी अन्न का तिरस्कार है, जितना भोजन जीवन के लिये उपयोगी हो, उतना ही खाना चाहिये। मेरे एक गृहस्थ मित्र प्रति समय सोलह ग्रास खाते थे।

जीवनोपयोगी भोजन में भी जाति-दोष, आश्रय-दोष और निमित्त-दोष से बचाकर खाना चाहिये। श्री रामानुजाचार्य का मत है – मांसादि में जातिदोष है। भोजन बनाने के बर्तन आदि ठीक न होने पर आश्रयदोष हुआ। भोजन बनानेवाले को शुद्ध और प्रसन्न होना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति रोते-रोते भोजन बनायेगा, तो उस अन्न को खानेवाला रोयेगा। यदि कोई भोजन जूठा कर गया हो अथवा भोजन में केश आदि अपवित्र वस्तु पड़ गयी हो, तो निमित्त-दोष हो जायेगा।

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः।।

– ''सब पवित्रताओं में धन की पवित्रता सबसे प्रधान है। जो वस्तु धन से पवित्र है, वह पवित्र है। मिट्टी-पानी से पवित्र हुई वस्तु पवित्र नहीं है।''

भोजन अपने हक का होना चाहिये। दूसरे का हक छीन कर, चुराकर, धोखे से लेकर भोजन करने पर मन पवित्र नहीं होगा। यह बात केवल अन्न की ही नहीं, अन्य वस्तुओं के विषय में भी है। सम्पूर्ण इन्द्रियों का आहार नियत होना चाहिये। नियमित आहार शरीर के सब रोगों को तो मिटायेगा ही, मन के रोगों को भी मिटायेगा। अधिक खाने से अजीर्ण होता है। अजीर्ण होने पर काम-क्रोध आदि बढ़ते हैं। ये काम-क्रोध-लोभ आदि मन के अजीर्ण हैं। नियमित-सन्तुलित भोजन से शरीर स्वस्थ रहता है। शरीर स्वस्थ-निरोग होने से मन स्वस्थ-प्रसन्न रहता है। फलतः जीवन में सुख, शान्ति, आनन्द और मस्ती रहती है।

भ्रमण भी नियमित होना चाहिये। अधिक चलने से थकान आ जाती है। श्रान्ति से तमोगुण आ जाता है। सर्वथा न चलने से भी मनुष्य आलसी हो जाता है। उसमें तमोगुण आ जाता है। अतः प्रतिदिन पैरों से थोड़ा अवश्यमेव चलना चाहिये। परिव्राजक-पर्यटनशील के लिये कहा गया है कि वह एक दिन में एक योजन – सात मील से अधिक पैदल न चले। नियत विहार करे।

कर्म भी युक्तियुक्त होना चाहिये। कर्म में अपनी चेष्टा यों ही अंटसंट नहीं होनी चाहिये। कर्म भी देश-काल-वस्तु-स्थिति-व्यक्ति आदि को देखकर करना चाहिये। एक सज्जन सभा में गये और वहाँ जाकर टहलने लगे। किसी ने पूछा, ''महाशय! आप यहाँ बैठते क्यों नहीं है?'' वे बोले, ''कैसे बैठें? इस समय तो हमारा टहलने का नियम है। उसे पूरा कर रहे हैं।'' ऐसे नियम पूरा नहीं किया जाता है। स्थान और समय के अनुरूप कर्म किया जाता है।

कर्म करते समय अपनी स्थिति-परिस्थिति देखनी चाहिये। जिस व्यक्ति से व्यवहार करना है, उसकी पात्रता भी देखनी चाहिये। अपनी आयु और शक्ति के अनुसार कर्म करना चाहिये। यदि आप के शरीर में पाँच सेर उठाने की शक्ति हो और आप पच्चीस सेर उठा लें, तो निश्चित रूप से आपके शरीर में दर्द हो जायेगा और रोग होगा। मेरे गाँव में एक व्यक्ति था। वह श्वास रोककर अपनी छाती पर पत्थर की पटिया रखवाता था। पटिया पर ऊखल रखवाता था। ऊखल में ईट डालकर तुड़वाता था। एक दिन उसने कहा, ''मैं श्वास रोककर अपनी छाती पर हाथी खड़ा कर लूँगा।'' उसकी छाती पर पटिया रखवायी गयी। किन्तु जैसे ही हाथी ने पत्थर की पटिया पर एक पैर रखा, उसकी छाती की हड्डियाँ टूट गयीं। मुख से रक्त निकला। वह व्यक्ति मर गया। अतः शक्ति देखकर प्रयत्न करना चाहिये।

शनैः कन्था शनैः पन्थाः शनैः पर्वतलङ्घनम्।
शनैर्भुक्तिः शनैर्मुक्तिः शनैर्विद्या शनैर्तपः।।

– ''गुदड़ी धीरे-धीरे सीना चाहिये। मार्ग में धीरे-धीरे चलना चाहिये। पर्वत पर धीरे-धीरे चढ़ना चाहिये।'' भोजन धीरे-धीरे करना चाहिये। मुक्ति का साधन धीरे-धीरे करना चाहिये। विद्या धीरे-धीरे पढ़नी चाहिये। तप धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये।

बचपन में मैं अपने पितामह से ज्योतिष पढ़ता था। उनसे ज्योतिष पढ़ने के लिये विद्यार्थी दूर-दूर से आते थे। बत्तीस-तैंतीस विद्यार्थी थे। दूसरे छात्र जितना कण्ठस्थ करते थे, मैं उनसे अधिक करता था। मैं प्रतिदिन तीस-बत्तीस श्लोक कण्ठस्थ कर लेता था। एक दिन मेरे बाबा ने मुझसे डाँटकर कहा, "तुम जितनी शीघ्रता से श्लोक याद करोगे, उतनी ही शीघ्रता से तुम्हें ये पीछे भूल जायेंगे। अत: जब तुम्हें एक श्लोक याद हो जाय, तब तुम एक सौ आठ बार उसका जप करो और फिर अगला श्लोक कण्ठस्थ करो।"

प्रकाशमय सूर्यदेवता जिसके अधिष्ठाता हैं, ऐसे दिन को प्रकृति ने जागने के लिये बनाया है और चन्द्रदेवता जिसके अधिष्ठाता हैं, ऐसी रात्रि विश्राम के लिये बनायी है। रात्रि के चार भाग करो। प्रथम प्रहर भोजन एवं मनोरंजन के लिये है। उसमें हास्य-विनोदादि से दिन की थकान मिट जाती है। द्वितीय और तृतीय प्रहार सोने के लिये हैं। अन्तिम प्रहर परमात्मा का चिन्तन करने के लिये है। कोई कहते हैं – रात्रि त्रियामा है। इसके तीन भाग करने चाहिये। प्रथम भाग भोजन-विश्राम-विनोद हेतु है। मध्यम भाग निद्रा हेतु है और अन्तिम भाग परमात्म-चिन्तन हेतु है।

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा।।

– "बुद्धिमानों का समय काव्य एवं शास्त्र-विनोद में बीतता है। मूर्खों का समय व्यसन में लगकर, नींद में या लड़ाई-झगड़े में बीतता है।" निद्रा सूर्योदय से पूर्व त्याग ही देनी चाहिये। एक नीतिकार ने कहा है –

कुचैलिनं दन्तमलोपधारिणं
बह्वाशिनं निष्ठुरभाषिणं च।
सूर्योदये चास्तमिते च शायिनं
विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिनम्।।

– "मैले वस्त्र पहननेवाले, दाँतों को मैला रखनेवाले, बहुत खानेवाले, निष्ठुर बोलनेवाले, सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय सोनेवाले स्वयं नारायण हों, तो उन्हें भी लक्ष्मी त्याग देगी।" भगवान् नारायण को हृदय में लेकर प्रकाश-चक्रवर्ती सूर्यदेव आ रहे हैं और तुम सो रहे हो? उनका आते समय और जाते समय भी स्वागत किया जाना चाहिये।

आगतं स्वागतं कुर्याद् गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वियात्।।

– "सम्मानित जन के आगमन पर आगे बढ़कर उनका स्वागत करे और उनके प्रस्थान करते समय कुछ दूर तक उनके पीछे-पीछे जाय।"

जैसे मन-ही-मन स्नान, शृंगार, वस्त्र-आधान, भोजन-ग्रहण आदि नहीं होते, वैसे ही द्रव्य या वस्तु के बिना भाव नहीं बनता हैं। अत: सूर्यदेव को जल से अर्घ्य दो; जल न मिले तो रेत से अर्घ्य दो; एक पुष्प या पत्र देकर प्रणाम करो। तुम्हारी महत्त्वबुद्धि वस्तु में और क्रिया में है। अत: वस्तु और क्रिया के बिना कोई काम सफल नहीं होगा। वस्तु साथ होने पर संकल्प बनता है। संकल्प के बिना कर्म फलप्रद नहीं होता है। यह धर्मशास्त्र का पक्का नियम है।

जीवन में नियत श्रम और विश्राम होना चाहिये। समत्व जीवन जीने के लिये निद्रा और जागरण होने चाहिये। बहुत सोनेवाला तमोगुण में पड़ा रहता है। वह योग नहीं कर सकता है। जागते ही रहनेवाले के लिये भी योग नहीं है। जो लोग ठीक-ठीक निद्रा नहीं लेते, उनका मस्तिष्क विकृत हो जाता है। मेरे एक मित्र थे। वे एक ही दिन में विद्वान् होने के लिये हनुमानजी का मंत्र-साधन करने लगे। रात भर जागकर जप करते रहे। जब प्रात: हवन करने लगे, तो उन्होंने न जाने क्या देखा कि वे पागल हो गये। अत: नींद ठीक-ठीक लेनी चाहिये और जागना भी ठीक चाहिये। समत्व योग पर पहुँचने के लिये सोना-जागना नियमित होना चाहिये।

कई लोग सोचते हैं कि आसन या प्राणायाम कर लेना ही योग है, त्राटक योग है या नेती-धौती योग है। गुदा के रास्ते जल चढ़ा लेना वस्ति है, लेकिन योग का अर्थ शरीर की कोई विशेष क्रिया नहीं है। योग का अर्थ है – हम जो अन्य से एक हो गये हैं, उनसे वियुक्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जायँ। विश्वात्मा-तैजसात्मा-प्राज्ञात्मा से तादात्म्य पृथक् करके अपने में स्थित हो जाना योग है। सम्पूर्ण भूत-भौतिक के साथ तादात्म्य का नाम 'विश्वात्मा' है। यह अपना आत्मा जाग्रत् में मन-इन्द्रियों से तादात्म्य प्राप्त करके विषयों का भोक्ता 'विश्व' कहलाता है। स्वप्न में अपने अन्तर में ही कल्पित विषयों का भोक्ता 'तैजस्' है। सुषुप्ति मन-इन्द्रियों की उपरामता का भोक्ता 'प्राज्ञ' है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति – इन तीनों अवस्थाओं में अनुसन्तत भोक्ता-भोग्य के भाव से रहित 'तुरीय' है। इस तुरीयात्मा के साथ योग करना है। कर्मयोग में क्रिया का विक्षेप है। उपासना-योग में देवता की, अन्य की प्रधानता है। ध्यानयोग में अपनी वृत्ति का प्रवाह है; वृत्ति के साथ सम्बन्ध है। अष्टांग-योग-निरोध में 'मैं समाधिस्थ होता हूँ' – यह अस्मिता है। सांख्ययोग में, जपयोग में द्रष्टा की स्वरूप-स्थिति में परिच्छिन्नता है। ब्रह्मात्मैक्य-बोध ही वास्तविक योग है। यह योग सम्पूर्ण दु:खों का निवारक है और परमानन्द की उपलब्धि हेतु है। इस योग का मूल है – साम्य। अत: भोजन, भ्रमण, कर्म तथा विश्राम – सबमें समता चाहिये। समत्व-योग में स्थित होने के लिये आत्मसम्मित भोजन, भ्रमण, कर्म तथा विश्राम होना चाहिये। ❑ ❑ ❑

कठोपनिषद्-भाष्य (१६)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

भाष्यम् – किम् च अन्यत् -

भाष्यानुवाद – इसके अतिरिक्त यह बात भी है –

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।२४।।

अन्वयार्थ – **प्रज्ञानेन** सूक्ष्म ज्ञान के द्वारा **अपि** भी (वह व्यक्ति) **एनम्** इस आत्मा को **न आप्नुयात्** नहीं प्राप्त कर सकता, (जो) **दुश्चरितात्** पापाचरण से **अविरतः** निवृत्त नहीं हुआ है; **न** न (वह व्यक्ति प्राप्त कर सकता है) **अशान्तः** जिसकी इन्द्रियाँ असंयत हैं; **न** न (वह प्राप्त कर सकता है) **असमाहितः** जिसका चित्त एकाग्र नहीं होता, **वा** या फिर **न अपि** वह भी नहीं (प्राप्त कर सकता), **अशान्त-मनसः** जिसका मन (अणिमादि सिद्धियों के लिये) चंचल है।

भावार्थ – सूक्ष्म ज्ञान के द्वारा भी (वह व्यक्ति) इस आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकता, (जो) पापाचरण से निवृत्त नहीं हुआ है; न (वह व्यक्ति प्राप्त कर सकता है) जिसकी इन्द्रियाँ असंयत हैं; न (वह) जिसका चित्त एकाग्र नहीं होता, या फिर वह भी नहीं (प्राप्त कर सकता), जिसका मन (अणिमादि सिद्धियों के लिये) चंचल है।

भाष्यम् – न दुश्चरितात् प्रतिषिद्धात् श्रुति-स्मृति-अविहितात् पापकर्मणः अविरतः अनुपरतः, न अपि इन्द्रिय-लौल्यात् अशान्तः अनुपरतः, न अपि असमाहितः अनेकाग्र-मनाः विक्षिप्त-चित्तः, समाहित-चित्तः अपि सन् समाधान - फलार्थित्वात्, न अपि अशान्त-मानसः व्यापृत-चित्तः वा, प्रज्ञानेन ब्रह्म-विज्ञानेन एनं प्रकृतम् आत्मानम् आप्नुयात् ।

भाष्य-अनुवाद – जो व्यक्ति दुश्चरित अर्थात् निषिद्ध, श्रुतियों तथा स्मृतियों द्वारा अविहित पाप कर्मों से विरत नहीं हुआ है, जो इन्द्रिय-लोलुपता से विरत न होने के कारण अशान्त है; जिसका मन संयमित नहीं, अपितु बहुमुखी है अर्थात् जिसका चित्त विक्षिप्त है; जिसका मन संयमित तो है, पर संयम के (अणिमा आदि सिद्धियों रूप) फल का आकांक्षी होने के कारण अशान्त या बिखरा हुआ है, वह ब्रह्म-विज्ञान के द्वारा इस वास्तविक आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकता।

यस्तु दुश्चरितात् विरतः इन्द्रिय-लौल्यात् च, समाहित-चित्तः समाधान-फलात् अपि उपशान्त-मानसः च आचार्यवान् प्रज्ञानेन एनं यथोक्तम् आत्मानं प्राप्नोति इत्यर्थः ।। २४(५३) ।।

तात्पर्य यह कि जो व्यक्ति दुराचरण तथा इन्द्रिय-लोलुपता से विरत है, जो संयमित चित्तवाला है, जिसका मन संयम के फल के विषय में भी शान्त है और जो आचार्य से युक्त है, वह व्यक्ति ब्रह्मविद्या के द्वारा उपरोक्त आत्मा को पा लेता है।

यः तु अनेवंभूतः -

परन्तु जो साधक ऐसा नहीं है, (वह आत्मा को कैसे प्राप्त करता है) –

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः।। २५(५४)

अन्वयार्थ – **यस्य** जिस आत्मा के **ब्रह्म च क्षत्रम् च** सर्वधर्मों के धारक ब्राह्मण और सर्वधर्मों के रक्षक क्षत्रिय **उभे** दोनों ही **ओदनः** अन्न **भवतः** बन जाते हैं, **मृत्युः** सर्व-संहारक यम **यस्य** जिसके **उपसेचनम्** व्यंजन (हो जाता है), **सः** वह आत्मा **यत्र** जहाँ (स्वमहिमा में सर्वभोक्ता के रूप में स्थित है, उसे) **कः** कौन (साधारण बुद्धि का मानव) **इत्था** वैसा (यथोक्त ज्ञानी के समान) **वेद** जान सकता है।

भावार्थ – जिस आत्मा के सर्वधर्मों के धारक ब्राह्मण और सर्वधर्मों के रक्षक क्षत्रिय दोनों ही अन्न बन जाते हैं, सर्वसंहारक यम जिसके व्यंजन (हो जाते हैं), वह आत्मा जहाँ (स्वमहिमा में सर्वभोक्ता के रूप में स्थित है, उसे) कौन (साधारण बुद्धि का मानव) वैसा (यथोक्त ज्ञानी के समान) जान सकता है।

इति द्वितीया वल्ली ।।

भाष्यम् – यस्य आत्मनः ब्रह्म च क्षत्रं च ब्रह्मक्षत्रे सर्व-धर्म-विधारके अपि सर्व-त्राणभूते उभे ओदनः अशनं भवतः स्याताम्, सर्वहरः अपि मृत्युः यस्य उपसेचनम् इव-ओदनस्य, अशनत्वे अपि अपर्याप्तः, तं प्राकृत-बुद्धिः यथोक्त-साधन-रहितः सन् कः इत्था इत्थम् एवं यथोक्त-साधनवान् इव इत्यर्थः । वेद विजानाति यत्र सः आत्मा इति ।। २५ (५४) ।।

भाष्य-अनुवाद – सभी धर्मों को धारण करनेवाले ब्राह्मण और सबकी रक्षा करनेवाले क्षत्रिय – दोनों ही जिस आत्मा के भात या भोजन बन जाते हैं, सबको हरण करनेवाला मृत्यु

जिसका (दाल आदि) उपसेचन के समान बन जाता है, ये सभी जिसके भोजन के लिये अपर्याप्त हैं; उस आत्मा को – उपरोक्त साधनों से रहित साधारण बुद्धिवाला व्यक्ति उस प्रकार कैसे जान सकता है, जैसा कि (सदाचार, संयम, आदि) उपरोक्त साधनों से युक्त व्यक्ति जान सकता है !

इति द्वितीय-वल्ली-भाष्यम् ।।

– द्वितीय वल्ली का भाष्य समाप्त हुआ ॥

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

अहंकार-निवृत्ति –

सन्त्यन्ये प्रतिबन्धाः पुंसः संसारहेतवो दृष्टाः ।
तेषामेवं मूलं प्रथमविकारो भवत्यहंकारः ।।२९८।।

अन्वय – पुंसः संसार-हेतवः अन्ये प्रतिबन्धाः दृष्टाः सन्ति । तेषां एव मूलं प्रथम-विकारः अहंकारः भवति ।

अर्थ – व्यक्ति के संसार-बन्धन (चक्र) के कारण-रूप अन्य अनेक (काम-क्रोध आदि) बाधाएँ भी दीख पड़ती हैं, (परन्तु) उन सबका मूल – (अज्ञान का) प्रथम कार्य 'अहंकार' ('मैं'-बोध) ही है ।

यावत्स्यात्स्वस्य सम्बन्धोऽहंकारेण दुरात्मना ।
तावन्न लेशमात्रापि मुक्तिवार्ता विलक्षणा ।।२९९।।

अन्वय – दुरात्मना अहंकारेण यावत् स्वस्य सम्बन्धः स्यात्, तावत् विलक्षणा मुक्ति-वार्ता लेश-मात्रा अपि न ।

अर्थ – जब तक दुष्ट अहंकार के साथ अपना सम्बन्ध रहता है, तब तक उससे विलक्षण (विपरीत लक्षणवाली) मुक्ति की बात को लेश मात्र भी नहीं समझा जा सकता ।

अहंकारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते ।
चन्द्रवद्विमलः पूर्णः सदानन्दः स्वयंप्रभः।।३००।।

अन्वय – अहंकार-ग्रहात् मुक्तः चन्द्रवत् विमलः पूर्णः सदानन्दः स्वयंप्रभः स्वरूपं उपपद्यते ।

अर्थ – (ग्रहण के बाद) राहु से मुक्त चन्द्रमा के समान व्यक्ति अहंकार से मुक्त होने के बाद अपने निर्मल, पूर्ण, सदानन्द, स्वयंप्रकाश आत्म-स्वरूप की उपलब्धि करता है ।

यो वा पुरे सोऽहमिति प्रतीतो
बुद्ध्या प्रक्लृप्तस्तमसाऽतिमूढया ।
तस्यैव निःशेषतया विनाशे
ब्रह्मात्मभावः प्रतिबन्धशून्यः।।३०१।।

अन्वय – यः वा पुरे अति-मूढया तमसा बुद्ध्या प्रक्लृप्तः, सः अहं इति प्रतीतः, तस्य एव निःशेषतया विनाशे, प्रतिबन्ध-शून्यः ब्रह्म-आत्म-भावः ।

अर्थ – जो अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण तमोगुणी बुद्धि के द्वारा उत्पन्न होकर शरीर में अहंकार के रूप में प्रतिभात हो रहा है, उसका पूर्णतया विनाश हो जाने पर ही सर्व बाधाओं से मुक्त ब्रह्मात्म-भाव अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' की अनुभूति होती है ।

ब्रह्मानन्दनिधिर्महाबलवताऽहंकारघोराहिना
संवेष्ट्यात्मनि रक्ष्यते गुणमयैश्चण्डैस्त्रिभिर्मस्तकैः ।
विज्ञानाख्यमहासिना श्रुतिमता विच्छिद्य शीर्षत्रयं
निर्मूल्याहिमिमं निधिं सुखकरं धीरोऽनुभोक्तुंक्षमः।। ३०२

अन्वय – ब्रह्मानन्द-निधिः महा-बलवता अहंकार-घोर-अहिना गुणमयैः त्रिभिः चण्डैः मस्तकैः संवेष्ट्य आत्मनि रक्ष्यते । धीरः श्रुतिमता विज्ञान-आख्य-महा-असिना शीर्ष-त्रयं विच्छिद्य इमं अहिं निर्मूल्य अनु सुखकरं निधिं भोक्तुं क्षमः ।

अर्थ – अहंकाररूपी महाबलवान भयंकर सर्प ने ब्रह्मानन्द-रूपी खजाने को अपनी कुण्डली के द्वारा छिपा रखा है । वह (सत्त्व-रजस्-तमस्) गुणों-रूपी तीन प्रचण्ड फनों द्वारा उसकी रक्षा कर रहा है । (केवल) धीर-विवेकी साधक (ही) श्रुतियों के उपदेशानुसार प्राप्त विशेष ज्ञानरूपी तलवार के द्वारा इन तीनों फनों को काटकर इस सर्प का पूर्ण विनाश करके उस आनन्दमय सम्पदा (ब्रह्मानन्द) का भोग करने में समर्थ है ।

यावद्वा यत्किञ्चिद्विषदोषस्फूर्तिरस्ति चेद्देहे ।
कथमारोग्याय भवेत्तद्वदहन्तापि योगिनो मुक्त्यै।।३०३

अन्वय – यावत् वा चेत् देहे यत् किञ्चित् विषदोष स्फूर्तिः अस्ति, कथं आरोग्याय भवेत्? तद्वत् अहन्ता अपि योगिनः मुक्त्यै ।

अर्थ – अथवा जब तक शरीर में जरा-सा भी विष का प्रभाव रह जाता है, तब तक वह नीरोग कैसे हो सकता है? वैसे ही जब तक योगी में अहंता हो, तब तक उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है?

अहमोऽत्यन्तनिवृत्त्या तत्कृतनानाविकल्पसंहृत्या ।
प्रत्यक्तत्त्वविवेकादिदमहमस्मीति विन्दते तत्त्वम् ।।३०४

अन्वय – प्रत्यक्-तत्त्व-विवेकात् अहमः अत्यन्त-निवृत्या, तत्-कृत-नाना-विकल्प-संहृत्या, इदं अहं अस्मि इति तत्त्वम् विन्दते ।

अर्थ – अपने आन्तरिक स्वरूप के तत्त्व-विवेक से अहंता की पूर्ण निवृत्ति होने पर, उसके द्वारा उत्पन्न नाना विकल्पों (कल्पना, विकार, संशय आदि) का संहार करने के बाद – यह (ब्रह्म) मैं हूँ – ऐसा बोध प्राप्त होता है ।

अहंकारे कर्तर्यहमिति मतिं मुञ्च सहसा
विकारात्मन्यात्मप्रतिफलजुषि स्वस्थितिमुषि ।
यदध्यासात्प्राप्ता जनिमृतिजरादुःखबहुला
प्रतीचश्चिन्मूर्तेस्तव सुखतनोः संसृतिरियम् ।। ३०५

अन्वय – विकार-आत्मनि स्व-स्थिति-मुषि आत्म-प्रतिफल-जुषि कर्तरि अहंकारे अहं इति मतिं सहसा मुञ्च । यद्-अध्यासात् चिन्मूर्तेः सुख-तनोः प्रतीचः तव इयम् जनि-मृति-जरा-दुःख-बहुला संसृतिः प्राप्ता ।

अर्थ – जो अहंता-बुद्धि परिवर्तनशील है, अपनी सहज चिदानन्द-रूप स्थिति को चुरानेवाली है, आत्मा के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करनेवाली है, कर्तृत्व में अहंकार रखनेवाली है, उसे तत्काल त्याग दो, (क्योंकि) उसके अध्यास के फलस्वरूप (ही) तुम चैतन्यमय आनन्दमूर्ति अन्तरात्मा को यह जन्म-मृत्यु-जरा आदि अनेक दु:खों से पूर्ण संसार प्राप्त हुआ है।

सदैकरूपस्य चिदात्मनो विभो-
रानन्दमूर्तेरनवद्यकीर्तेः ।
नैवान्यथा क्वाप्यविकारिणस्ते
विनाहमध्यासममुष्य संसृतिः ।।३०६।।

अन्वय – सदा एकरूपस्य चिदात्मनः विभोः आनन्दमूर्तेः अनवद्य-कीर्तेः अविकारिणः ते, अमुष्य अहम्-अध्यासं विना अन्यथा क्व अपि संसृतिः न एव ।

अर्थ – तुम सदा एकरूप चैतन्यमय, सर्वव्यापी, आनन्द-स्वरूप अनिन्द्य कीर्तिवाले और अविकारी हो। तुममें बाहर से अहंकार का अध्यास हुए बिना अन्य किसी भी प्रकार से संसार की स्थिति सम्भव ही नहीं है।

तस्मादहंकारमिमं स्वशत्रुं
भोक्तुर्गले कण्टकवत्प्रतीतम् ।
विच्छिद्य विज्ञानमहासिना स्फुटं
भुङ्क्ष्वात्मसाम्राज्यसुखं यथेष्टम् ।।३०७।।

अन्वय – तस्मात् भोक्तुः गले कण्टकवत् प्रतीतम् स्वशत्रुम् इमम् अहंकारम् विज्ञान-महा-असिना विच्छिद्य स्फुटं आत्म-साम्राज्य-सुखम् यथेष्टम् भुङ्क्ष्व ।

अर्थ – अत: भोजन करते समय गले में (फँस गये) काँटे के समान अपने इस अहंकार-रूपी शत्रु को विशिष्ट ज्ञान रूपी महा खड्ग के द्वारा विच्छिन्न करके स्पष्ट रूप से प्रकट होनेवाले आत्म-साम्राज्य के सुख का यथेच्छा उपभोग करो।

ततोऽहमादेर्विनिवर्त्य वृत्तिं
संत्यक्तरागः परमार्थलाभात् ।
तूष्णीं समास्स्वात्मसुखानुभूत्या
पूर्णात्मना ब्रह्मणि निर्विकल्पः ।।३०८।।

अन्वय – ततः अहम्-आदेः वृत्तिम् विनिवर्त्य परमार्थ-लाभात् संत्यक्त-रागः आत्म-सुख-अनुभूत्या निर्विकल्प ब्रह्मणि पूर्ण-आत्मना तूष्णीम् समास्स्व ।

अर्थ – अतएव, 'अहम्' आदि ('मैं'-'मेरा') वृत्तियों को संयमित करके, परमार्थ-अनुभूति के द्वारा आसक्ति को त्यागकर, आत्मसुख की अनुभूति के द्वारा निर्विकल्प अर्थात् द्वैतरहित ब्रह्म में स्थित होकर पूरी तौर से शान्त हो जाओ।

समूलकृत्तोऽपि महानहं पुन-
र्व्युल्लेखितः स्याद्यदि चेतसा क्षणम् ।
संजीव्य विक्षेपशतं करोति
नभस्वता प्रावृषि वारिदो यथा ।।३०९।।

अन्वय – महान् अहम् समूल-कृत्तः चेतसा यदि क्षणम् अपि पुनः व्युल्लेखितः स्यात्, प्रावृषि नभस्वता वारिदः यथा, संजीव्य विक्षेप-शतम् करोति ।

अर्थ – यह महाशक्तिमान् अहम् जड़ से काट दिये जाने पर भी, यदि चित्त द्वारा क्षण भर के लिये भी पुन: संकल्पित हो जाय, तो वह पुन: जीवित होकर, वर्षा काल में वायु द्वारा लाये गये मेघ के समान, सैकड़ों विक्षेपों की सृष्टि करता है।

निगृह्य शत्रोरहमोऽवकाशः
क्वचिन्न देयो विषयानुचिन्तया ।
स एव संजीवनहेतुरस्य
प्रक्षीणजम्बीरतरोरिवाम्बु ।।३१०।।

अन्वय – अहमः शत्रोः निगृह्य, विषय-अनुचिन्तया क्वचित् अवकाशः न देयः, प्रक्षीण-जम्बीर-तरोः अम्बु इव, सः एव अस्य संजीवन-हेतुः ।

अर्थ – अहंकार-रूपी शत्रु को वशीभूत करने के बाद, विषयों के चिन्तन के द्वारा उसे जरा भी मौका नहीं देना चाहिये, अन्यथा सूखे हुए चकोतरे के वृक्ष में डाले हुए जल के समान, वही उसके पुनर्जीवन का हेतु बन जाता है।

देहात्मना संस्थित एव कामी
विलक्षणः कामयिता कथं स्यात् ।
अतोऽर्थसन्धानपरत्वमेव
भेदप्रसक्त्या भवबन्धहेतुः ।।३११।।

अन्वय – देह-आत्मना संस्थितः एव कामी, विलक्षणः कथम् कामयिता स्यात्? अतः अर्थ-सन्धान-परत्वम् एव भेद-प्रसक्त्या भव-बन्ध-हेतुः ।

अर्थ – अपने शरीर में तादात्म्य (आत्मबुद्धि) रखनेवाला व्यक्ति ही कामना-परायण होता है, इसके विपरीत लक्षणवाला (देहाभिमान रहित) व्यक्ति भला कैसे कामनापरायण हो सकता है? अतएव भेदबुद्धि के द्वारा विषयों का चिन्तन करना ही संसार-बन्धन का कारण है।

कार्यप्रवर्धनाद्बीजप्रवृद्धिः परिदृश्यते ।
कार्यनाशाद्बीजनाशस्तस्मात्कार्यं निरोधयेत् ।।३१२

अन्वय – कार्य-प्रवर्धनात् बीज-प्रवृद्धिः परिदृश्यते, कार्य-नाशात् बीज-नाशः, तस्मात् कार्यम् निरोधयेत् ।

अर्थ – कार्य (सकाम कर्म) में वृद्धि होने से उसके (वासना-रूपी) बीज में वृद्धि होती देखने में आती है (और) कार्य का नाश होने पर उसके (वासना-रूप) बीज का भी नाश हो जाता है, अत: सकाम कर्म त्याग देना चाहिये।

❖ (क्रमशः) ❖

रायपुर में स्वामी विवेकानन्द एयरपोर्ट का नाम

२३ जनवरी २०१२, मंगलवार की शाम को प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में हुए केन्द्रीय मंत्रीमण्डल की बैठक में एक महत्त्वपूर्ण फैसला लेकर रायपुर के 'माना एयरपोर्ट' का नाम बदलकर 'स्वामी विवेकानन्द एयरपोर्ट' कर दिया। वर्तमान में इस विमानतल का विस्तारीकरण चल रहा है। राज्य के मुख्य-मंत्री डॉ. रमणसिंह ने पत्र लिखकर इस निर्णय के लिये प्रधान-मंत्री तथा उनके कैबिनेट के प्रति आभार व्यक्त किया है। इस निर्णय की जानकारी मिलते ही उन्होंने कहा, "निश्चित रूप से स्वामी विवेकानन्द जैसे महान् दार्शनिक और समाज-सुधारक के प्रति सम्मान प्रकट करने की दृष्टि से यह एक अच्छा फैसला है।" उन्होंने यह भी कहा, "स्वामीजी ने अपने बाल्य-काल का कुछ समय रायपुर (छत्तीसगढ़) में बिताया था – यह हम सबके लिये गर्व की बात है।"

ढाका में रक्तदान शिविर

बांगलादेश : रामकृष्ण मिशन, ढाका, के द्वारा दिनांक १९ अगस्त, २०११ को एक रक्तदान शिविर का आयोजन किया गया। इस शिविर का उद्घाटन रामकृष्ण मिशन, ढाका के सचिव स्वामी अमेयानन्दजी महाराज ने किया।

लखनऊ मठ में सम्पन्न कार्यक्रम

रामकृष्ण मठ, लखनऊ के तत्त्वावधान में अगस्त, २०११ में श्रीकृष्ण जन्मोत्सव के अतिरिक्त स्वामी निरंजनानन्द जयन्ती एवं स्वामी अद्वैतानन्द जयन्ती मनायी गयी। साप्ताहिक कार्यक्रम के अन्तर्गत आश्रम के सचिव स्वामी मुक्तिनाथनन्दजी के श्रीरामकृष्ण वचनामृत, युवाओं के लिए स्वामी विवेकानन्द तथा श्रीमद्-भगवद्-गीता पर प्रवचन सम्पन्न हुए। स्वामी पररूपानन्दजी ने श्रीमाँ सारदा के सन्देशों पर प्रवचन दिया।

राँची (झारखण्ड) के कुछ सेवा-प्रकल्प

राँची के मोराबादी में स्थित रामकृष्ण मिशन आश्रम द्वारा राँची तथा खूँटी जिले के गाँवों में विगत २०११ में कई महीनों से नरेन 'आई-केयर' (नेत्ररक्षा) कार्यक्रम चलाया गया, जिसका उद्देश्य था ग्रामीण बच्चों की आँखों की जाँच और उनकी आँखों के स्वास्थ्य की उचित देखभाल के लिये जरूरी सलाह देना। इसके तहत राँची के अनगड़ा, बेड़ों, बुड़मू, तमाड़ तथा सिल्ली प्रखण्डों में २८ कैम्प आयोजित किये गये, जिसमें करीब ५४४२ बच्चों की आँखों की जाँच की गयी और इनमें से ३२७ बच्चों में दृष्टिदोष पाया गया। उन्हें उचित दवाएँ तथा चश्मा आदि प्रदान किये गये। करीब ६ प्रतिशत ग्रामीण बच्चे दृष्टिदोष से पीड़ित पाये गये, जिन्हें चिकित्सा के अलावा विटामिन ए युक्त आहार की भी सलाह दी गयी।

स्वयं-सहायता-समूह प्रशिक्षण कार्यक्रम

२६ जुलाई,२०११ को रामगढ़ जिले के दुलमी प्रखण्ड स्थित बेयांग में ३ नये 'महिला स्वयं-सहायता समूहों' को क्षमतावर्धन प्रशिक्षण प्रदान करके रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची द्वारा चलाये जा रहे ऐसे समूहों की सूची में शामिल किया गया। कार्यक्रम में २७ महिलाओं ने भाग लिया। उन्हें समूह के लिए रजिस्टर, पास-बुक आदि भी प्रदान किये गये।

स्व-सहायता समूहों का अनुगमन कार्यक्रम

जुलाई, २०११ माह में रामकृष्ण मिशन, राँची ने अनगड़ा प्रखण्ड के गेतलसुद, ओबर तथा सुरसू, लापुँग प्रखण्ड के झीकी एवं मांडर प्रखण्ड के महुआजाड़ी तथा कर्रा प्रखण्ड के चाँपी गाँव के लगभग २५ स्वयं-सहायता समूहों की महिलाओं के साथ बैठक करके उनके द्वारा किये जा रहे कार्यों की समीक्षा की, उन्हें जरूरी मार्गदर्शन प्रदान कर उनकी समस्याओं का समाधान किया गया तथा उन्हें रामकृष्ण मिशन द्वारा चलाये जा रहे कार्यक्रमों की जानकारी प्रदान की गयी। इस महीने में सुरसू गाँव के स्वयं सहायता समूहों को लाह बीज दिया गया, चाँपी के ४ समूहों को दरी प्रदान किये गये एवं ओबर के समूहों को झारक्राफ्ट द्वारा बुनाई कार्य हेतु मशीनों के पुर्जे दिये गये।

'सामुदायिक भवन' तथा 'मशरूम उत्पादन केन्द्र'

रामकृष्ण मिशन, राँची और स्टील अथॉरिटी ऑफ इण्डिया (सेल) संयुक्त तत्त्वावधान में खूँटी के कर्रा प्रखण्ड में स्थित चाँपी गाँव को आदर्श ग्राम बनाने का प्रयास किया जा रहा है। इसी कार्यक्रम के तहत वहाँ सामुदायिक भवन एवं मशरूम उत्पादन केन्द्र का निर्माण किया गया है, जिसका उद्घाटन २२ जुलाई, २०११ को सेल के कार्यपालक निदेशक श्री आदित्य स्वरूप माथुर तथा आश्रम के सचिव स्वामी शशांकानन्दजी द्वारा किया गया। कार्यक्रम में सेल के महाप्रबन्धक (वित्त) श्री एस. के अग्रवाल, सी. एस. आर की श्रीमती समीरापन्न एवं अन्य गणमान्य प्रतिनिधि उपस्थित थे। कार्यक्रम के मार्गदर्शक के रूप में स्वामी राधाकान्तानन्द जी भी उपस्थित थे। ग्रामवासियों ने बड़ी संख्या में कार्यक्रम में भाग लिया। ❑❑❑